अंतर्मन की पीड़ा

(श्री जगदीश प्रसाद मण्डल के मैथिली उपन्यास ‘कुण्ठा’ का हिंदी अनुवाद)

कुण्ठा

मैथिली उपन्यास

जगदीश प्रसाद मण्डल

अंतर्मन की पीड़ा

हिंदी अनुवाद

गगन कुमार

अंतर्मन की पीड़ा

जगदीश प्रसाद मण्डल

हिंदी अनुवाद

गगन कुमार

पल्लवी प्रकाशन
बेरमा/निर्मली

ANTARMAN KI PEEDA

Translated from the original Maithili novel "Kuntha" by Shri Jagdish Prasad Mandal

Antarman Ki Peeda is the Hindi translation of Shri Jagdish Prasad Mandal's renowned Maithili novel Kuntha, recipient of the Videha Bal Sahitya Puraskar. This children's novel combines emotional depth with moral reflection, portraying the awakening of a young mind as it faces questions of dignity, restraint, and self-respect.

Through simple yet powerful narration, Mandal reveals the silent suffering and inner growth of his characters. Each one bears a quiet ache, caught between duty and desire, tradition and awakening, showing how innocence learns endurance in a complex world.

The translation retains the purity of Mandal's prose and the soft rhythm of the Maithili idiom, allowing Hindi readers to experience the same emotional resonance as the original.

More than a story, Antarman Ki Peeda stands as a mirror to the growing mind, a journey from silence to self-realization, from pain to understanding, where a child's heart becomes the dwelling place of moral courage and quiet strength.

Published by: Pallavi Prakashan
Tulsi Bhawan, Nehru Marg, Ward no. 06, Nirmali, District- Supaul, Bihar: 847452

First Edition: 2025
ISBN: A/F
Price: 299/-
Copyright: © Publisher

Printed by: Manav Art (Pallavi Prakashan)
Typography: Dr. Umesh Mandal, umeshberma@gmail.com
Cover Design: Mrs. Poonam Mandal, Nirmali, Supaul, Bihar- 847452

Website: http://pallavipublication.blogspot.com
E-mail: pallavi.publication.nirmali@gmail.com
Mobile: +91 99316 54742, +91 62006 35563
Font source: https://fonts.google.com/,
https://github.com/virtualvinodh/aksharamukha-fonts

All rights reserved. No part of this publication may be reproduced or transmitted in any form or by any means without the prior written permission of both the author and the publisher.

समर्पण भाव

हम तो

प्रस्तावना

साहित्य की दुनिया में कभी-कभी ऐसी रचनाएँ सामने आती हैं जो

1

☰

पाँच बजे का समय था। स्कूल से लौटते ही राजदेव बोला- “माँ, कल स्कूल बंद रहेगा।”

बेटे के मुँह से यह सुनकर भुलिया मन ही मन सोचने लगी कि आखिर कल स्कूल क्यों बंद रहेगा।

न कोई पर्व नज़दीक है, न शनिवार है, न रविवार। फिर छुट्टी क्यों?

उसे यह भी खयाल आया कि शायद किसी नेता की मृत्यु हो गई हो, तभी स्कूल बंद हो रहा हो। वह राजदेव से फिर पूछना चाहती थी, पर मन ने रोका। कहीं ऐसा न लगे कि वह बेटे की बात पर शक कर रही है। फिर भी भीतर यह खटक बनी रही कि बिना त्यौहार, बिना इतवार, स्कूल बंद क्यों रहेगा।

राजदेव खाना खाकर हाथ धो ही रहा था कि तभी रामेश्वर आ गया। रामेश्वर को देखते ही भुलिया ने पूछा- “बेटा, कल स्कूल में किस बात की छुट्टी है?”

तेरह साल के राजदेव और रामेश्वर दोनों ही हाई स्कूल की आठवीं कक्षा में पढ़ते थे। अब तो स्कूलों में कक्षाओं की घट-बढ़ कोई नई बात नहीं रही। मिडिल स्कूल में जब आठवीं कक्षा जोड़ी गई, तो हाई स्कूल में भी फेरबदल होने लगा। बारहवीं की पढ़ाई जुड़ते ही कुछ स्कूलों में बदलाव और बढ़ोतरी भी हो गई।

इसी तरह अब 'हेडमास्टर' को 'प्रिंसिपल' कहा जाने लगा है। बल्कि अब तो 'प्रिंसिपल' बनने के लिए एक और रास्ता खुल गया है, अंग्रेज़ी

माध्यम के कोचिंग सेंटर। मगर जो जैसा है, वैसा ही चल रहा है।

रामेश्वर को यह तो मालूम था कि कल छुट्टी है, पर यह नहीं पता था कि किस वजह से।

वैसे भी, लोअर प्राइमरी से लेकर हाई स्कूल तक के ज़्यादातर विद्यार्थी छुट्टी की आस में रहते हैं कि कब मिले। कुछ तो हर हफ्ते गिनते हैं कि पिछला रविवार कितने दिन पहले था और अगला रविवार कितने दिन दूर है।

यह सब बहुत स्वाभाविक है। जहाँ पढ़ाई ईमानदारी से चल रही हो, जहाँ शिक्षक और विद्यार्थी दोनों अपने काम में लगनशील हों, वहाँ भी छुट्टी की चाह खत्म नहीं होती। गंभीर सवालों के बीच जैसे कोई अच्छा विद्यार्थी चुपचाप निकल जाता है, वैसे ही कुछ शिक्षक भी ज़िम्मेदारी से बचने लगते हैं। लेकिन जहाँ दायित्व और उत्तरदायित्व का प्रश्न हो, वहाँ पीछे हटना गलती मानी जाती है।

निष्कपट भाव से रामेश्वर बोला- “काकी, मास्टर साहब ने खुद कहा है, कल छुट्टी रहेगी।”

रामेश्वर का उत्तर सुनकर भी भुलिया का मन मानने को तैयार नहीं हुआ।

यह स्वाभाविक है कि जो माँ-बाप दिन-रात मेहनत करके बच्चों को पढ़ा रहे होते हैं, यदि वे निगरानी में ढील देने लगें, तो बच्चे बिगड़ सकते हैं और गलत रास्ते पर चल पड़ते हैं।

रामेश्वर और राजदेव टहलने निकल गए।

आज का माहौल ऐसा बन गया है कि बच्चे अपना आधे से ज़्यादा समय और ऊर्जा खेलकूद में लगा रहे हैं। यह कितना उचित है, इसका निर्णय माँ-बाप को ही करना चाहिए। अब तो व्यायाम को भी 'योग' कहा जाने लगा है, जिससे समाज धीरे-धीरे भ्रमित होता जा रहा है।

ऋषि-मुनि भले ही योग को मन, चित्त और बुद्धि का संयम मानें या कर्म, ज्ञान और भक्ति का समन्वय कहें, पर बच्चों के लिए योग का मतलब

सिर्फ किसी मदारी या खिलाड़ी की नकल करना है। बच्चे अपनी पहचान अपने वंश और पूर्वजों से ही ग्रहण करते हैं।

वंश की धारा को पहचानना और उसी में अपनी जीवन-दिशा पाना उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। धारा तो धारा होती है। वह बारिश नहीं जो कहीं बरसे और कहीं सूखा छोड़ दे। वह अपनी दिशा खुद तय करती है और उसी ओर बहती है।

आज का परिवेश कुछ ऐसा हो गया है कि भले ही मशीनों की उत्पादन क्षमता रातोंरात दस गुना बढ़ जाए, पर सामाजिक और पारिवारिक जीवन वैसी छलांग नहीं लगा सकता। और जब छलांग नहीं लगती, तो सही दिशा भी नहीं मिलती। दिशा के बिना समाज और परिवार दोनों बिखर जाते हैं।

लेकिन भुलिया को इन बातों से क्या मतलब। वह तो सिर्फ इतना जानती है कि जैसे वह मेहनत से अपने बेटे को पढ़ा रही है, वैसे ही एक दिन जब बेटा कमाने लगेगा, तो उसकी सेवा करेगा। यही सोच उसे संतोष देती है।

भुलिया यह कहाँ समझ पाती थी कि अब ऐसा वातावरण बनता जा रहा है, जहाँ मेट्रो जैसी तेज़ रफ़्तार ट्रेनें और हवाई जहाज जैसी सुविधाजनक सवारियाँ तो बन गई हैं, लेकिन उन सवारियों पर चढ़ने वाले भी तो चाहिए, जिनके लिए प्रत्येक मिनट का मूल्य हो।

जहाँ लोगों के जीवन का कोई ठिकाना नहीं, वहाँ जीवन भी बेलगाम हो गया है।

ऐसी अस्थिरता में जब तक व्यक्ति को कोई स्थिर आधार नहीं मिलेगा, वह न तो शांतचित्त होकर कर्म कर सकेगा, न ही कुण्ठा से मुक्त हो सकेगा।

लोगों के बीच यह चर्चा चलती रहती है कि वैकुण्ठ, स्वर्ग से भी ऊपर है। मैं यह नहीं कहता कि वैकुण्ठ स्वर्ग के ऊपर है, पर इतना निश्चित है कि वहाँ पहुँचना तभी संभव है, जब मनुष्य अपने भीतर की कुण्ठा से मुक्त हो

जाए। जब तक यह नहीं होगा, तब तक वह सतलोक की सीमा पर ही ठहरा रहेगा।

गतिशील परिवार की असली गतिशीलता तो यही है कि उसके सभी सदस्य अपने कर्तव्यों के प्रति सजग बने रहें।

बच्चे का स्कूल बंद हो रहा है और माता-पिता को यह भी ध्यान नहीं कि वह घर से निकलकर कहाँ जा रहा है।

संयोग से उसी समय देवकान्त बाबू रास्ते से गुजर रहे थे।

देवकान्त बाबू पड़ोसी गाँव के ही शिक्षक थे। सुकलाराही और तुमौल गाँव पास-पास हैं, इसलिए वे पैदल ही विद्यालय आते-जाते थे।

भुलिया ने उन्हें देखकर पूछा-

“मास्टर साहब, कल स्कूल बंद रहेगा क्या?”

देवकान्त बाबू ने उत्तर दिया-

“हाँ।”

भुलिया ने फिर पूछा-

“क्यों?”

देवकान्त बाबू को सिर्फ अपने गाँव के लोग ही नहीं, आस-पास के गाँवों के लोग और विद्यालय के शिक्षक भी एक आदर्श शिक्षक मानते थे।

सब यही जानते थे कि देवकान्त बाबू को पढ़ाने के सिवा दुनिया के किसी और काम से कोई मतलब नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी सोच होती है, और अपने जीवन का एक संकल्प भी। देवकान्त बाबू का संकल्प स्पष्ट था।

वे मानते थे कि जब वे शिक्षक हैं, बच्चों को पढ़ाने की जिम्मेदारी लेकर वेतन लेते हैं, तो उनका ध्यान केवल पढ़ाई पर ही केंद्रित रहना चाहिए। पढ़ाना कोई सीमित कार्य नहीं है। यह ऐसा काम है, जो सब जगह किया जा सकता है।

इसलिए यदि रास्ते में भी उन्हें कोई बच्चा मिल जाता, तो वे उससे

पढ़ाई की बात करते हुए ही आगे बढ़ते थे। देवकान्त बाबू को भी छुट्टी का कारण ठीक-ठीक मालूम नहीं था। बस इतना पता था कि कल स्कूल बंद रहेगा।

आज सुबह, बाकी दिनों की तुलना में, आज सुबह ही टेम्पो लेकर सिंहेश्वर घर पहुँचा पर सिंहेश्वर का मन उदास था।

टेम्पू को घर के दरवाज़े पर खड़ा कर, वे वहीं बैठ गए। आम दिनों की तरह मन में वह उत्साह नहीं था।

सिंहेश्वर को दरवाज़े पर बैठे देखकर भुलिया के मन में संशय हुआ कि कहीं रास्ते में कोई दुर्घटना तो नहीं हो गई। आँगन से बाहर निकलकर जब वह दरवाज़े तक पहुँची, तो देखा कि पति सचमुच बुझा हुआ है। हर पत्नी की तरह उसने पूछा-

“क्या आज कुछ ज़्यादा परेशानी हुई है?”

भुलिया की बात सुनकर सिंहेश्वर मन ही मन सोचने लगे कि उसे क्या बताना ठीक रहेगा?

आज से गाड़ी चलनी बंद हो गई है, और यह भी नहीं मालूम कि फिर कब चलेगी। उन्होंने अपने मन को टोका कि जब कभी पत्नी से झूठ नहीं बोला- तो अब सच्चाई क्यों न बता दूँ। फिर मन ने यह सोचकर रोक लिया कि परिवार में हर किसी का अपना काम होता है।

उसका काम तो बाधित नहीं हुआ, केवल अपना हुआ है। तो फिर अपनी परेशानी बताकर उसे भी क्यों दुखी किया जाए? लेकिन तभी दूसरा तर्क उभरा कि घर की आमदनी का मुख्य स्रोत तो यही गाड़ी है, जो अब बंद पड़ी है।

जब यह रुक गई, तो घर के बाकी काम भी प्रभावित होंगे। इसलिए सब कुछ साफ-साफ बता देना चाहिए।

सिंहेश्वर बोले- “आज से गाड़ी चलनी बंद हो गई।”

"गाड़ी चलनी बंद हो गई?” भुलिया चौंककर पूछी। "क्यों?”

सिंहेश्वर को सिर्फ इतना पता था कि यह बंदी स्कूल जैसी एक-दो दिन की नहीं है। यह कब तक चलेगी, इसका कोई अंदाज़ा नहीं। साथियों से बातचीत में बस इतना ही मालूम हुआ था कि रुकावट लंबी चलेगी, लेकिन वजह किसी को भी ठीक से नहीं पता थी।

भुलिया ने फिर पूछा- “क्यों बंद हो गई?”

उसी समय रूपलाल बाज़ार से लौटते हुए रास्ते में आ गए। सिंहेश्वर को देखकर बोले-

“सिंहेश्वर, बाज़ार बंद हो गया। अच्छा हुआ जो बंद होने से पहले सामान ले आया, नहीं तो साँस लेना मुश्किल हो जाता।”

रूपलाल की बात का आशय सिंहेश्वर की समझ में नहीं आया। उन्होंने पूछा-

"काका, ऐसा क्या हो जाता कि साँस लेना मुश्किल हो जाता?”

रूपलाल के चेहरे पर बेचैनी साफ़ झलक रही थी। आश्चर्य की बात नहीं थी, क्योंकि उन्होंने अपनी आँखों से देखा था कि आज बाज़ार में इतनी भीड़ हो गई कि ज़रूरत की सारी चीज़ें गायब हो गईं। नमक, तेल और आलू किसी भी दुकान पर नहीं बचे। सबसे ज़्यादा भीड़ इन्हीं सामानों को खरीदने वालों की थी।

रूपलाल बोले-

“सिंहेश्वर, देखो बेटा, सामान का ऐसा अकाल हो गया है कि क्या बताऊँ। संयोग से जेब में पैसे थे, तो पंद्रह किलो आलू, एक-एक किलो के दस पैकेट नमक और पाँच किलो सरसों का तेल खरीद लिया। नहीं तो कल से खाने का संकट खड़ा हो जाता।”

अपनी चिंता दबाते हुए सिंहेश्वर बोले-

"काका, तब तो आप समय रहते सब कुछ सँभाल ही लिए।”

हेश्वर की बात सुनकर रूपलाल का मन प्रफुल्लित हो उठा। उन्होंने कहा- “मेरे घर में जो सामान है वो मेरी जरूरत से अधिक है उसमें से आधा

तुम भी ले लो।"

रूपलाल की बात सुनते ही सिंहेश्वर के मन में हल्की-सी दहशत उठी।

डर का कारण भी साफ़ था। रूपलाल काका तो नकद पैसे देकर सामान ले आए, लेकिन उनका अपना रोजगार तो बंद हो गया है। घर का पूरा परिवार खाने-पीने पर ही निर्भर है। इसलिए अब सबसे ज़रूरी काम अनाज-पानी का जुगाड़ करना है। नमक और तेल के बिना कुछ दिन चल सकता है, पर अन्न-पानी के बिना नहीं।

फिर मन में यह विचार आया कि जब हाट-बाज़ार, गाड़ी-सवारी, स्कूल-कॉलेज सब बंद हो रहा है, तो हर चीज़ की कमी तो पड़ेगी ही। और जब रूपलाल काका ने खुद आगे बढ़कर उपकार की भावना से कुछ देने की बात कही है, तो उसे मना करना भी ठीक नहीं लगेगा।

सिंहेश्वर बोले- "काका, इतनी दूर से इतना भारी सामान आप सिर पर उठाकर लाए हैं। उसमें से मेरा लेना क्या उचित होगा?"

रूपलाल को भी अंदाज़ा नहीं था कि बाज़ार कितने दिन बंद रहेगा और रोज़मर्रा के खर्चे कितने बढ़ सकते हैं। भीड़ देखकर उन्होंने जल्दी-जल्दी सामान खरीद लिया और उसी जोश में डेढ़ कोस की दूरी सिर पर बोझ लेकर तय कर ली।

सिंहेश्वर के मन में यह भाव आया कि अब तक उनके और रूपलाल काका के परिवारों के बीच जो संबंध रहे हैं, वे केवल व्यवहारिक नहीं, बल्कि आत्मीयता से भरे रहे हैं।

विचारों से लेकर दिनचर्या और लेन-देन तक, दोनों परिवारों के बीच हमेशा घनिष्ठता बनी रही है। आज भले ही ज़माना बिजली और सुविधाओं का हो गया हो, लेकिन जब चूल्हा जलाने के लिए लकड़ी और गोइठे पर निर्भर रहना पड़ता था, और अब भी अधिकतर घरों में वही चूल्हा जलता है, तब किसी विपत्ति के समय अतिथि-सत्कार करना आसान नहीं होता था।

फिर भी, समाज में आज भी ऐसे लोग हैं जो दूसरों के मान-सम्मान को अपना समझते हैं, और उसी भावना से व्यवहार करते हैं।

यही सोच और भावना रूपलाल की बातों में भी थी। उन्होंने बाज़ार की स्थिति अपनी आँखों से देखी थी। उन्हें लगा कि सिंहेश्वर बात की गंभीरता को पूरी तरह नहीं समझ पा रहे हैं, तभी तो हिचकिचा रहे हैं। अगर समझते, तो उनका जवाब कुछ और होता।

रूपलाल बोले-

“सिंहेश्वर, हमारे जैसे परिवारों को कहाँ इतनी सुविधा है कि मनमाफिक काम करें और चैन से जी सकें। जैसा पेट पालने लायक जीवन मिला है, उसी में सब कुछ निभाना पड़ता है।”

रूपलाल की बात सुनकर सिंहेश्वर के मन में हलचल हुई।

एक साथ कई विचार उमड़ने लगे, लेकिन रूपलाल के सामने उन्होंने अपने भावों को संयमित किया और बोले-

"काका, एक तो आप इतने पैसे खर्च कर ये भारी चीज़ें लाए हैं। उस पर अगर मैं इसे ऐसे ही लूँ, यानी उधार में, तो..."

सिंहेश्वर की बात सुनकर रूपलाल ने मन ही मन हिसाब लगाया।

वे जानते थे कि उनका परिवार टेम्पू-गाड़ी की आमदनी पर निर्भर है और सिंहेश्वर का टेम्पू ही उनके परिवार का मुख्य सहारा है।

जैसे उनके घर में कभी न कभी कोई न कोई खर्चा उभर आता है, वैसे ही सिंहेश्वर के घर में भी होता होगा।

लेकिन इस समय जो हालात बन रहे हैं, वे इतने गंभीर हैं कि पता नहीं कितने परिवार पूरी तरह मिट जाएँगे।

फिर भी मिटना और न मिटना, दोनों की संभावनाएँ बनी रहती हैं। कुछ परिवार खत्म हो जाएँगे, तो कुछ शायद आसमान तक पहुँच जाएँ।

जैसे बराहक्षेत्र में कोसी नदी के दो पहाड़ों पर कील ठोंककर एक लचकता हुआ पुल बनाया गया है।

चलते समय वह झूलता है, तो चलने वाले के गिरने का डर बना रहता है, लेकिन फिर भी जो उस ऊँचाई पर पुल बना सके, उसके लिए ऊपर

उठना मुश्किल नहीं रह जाता।

उसी तरह जो नीचे गिरता है, उसे डूबने का भय होता है, और जो ऊपर उठता है, वह भी गिरने की आशंका से मुक्त नहीं हो पाता।

मरने और जीने का डर दोनों ही को होता है, और दोनों एक-दूसरे से पूरी तरह अलग भी नहीं हैं।

एक ओर सिंहेश्वर अपने साथी टेम्पूवालों के साथ गाड़ी-सवारी बंद होने की चिंता में डूबे थे, तो दूसरी ओर रूपलाल बाज़ार के हालात देखकर समाज में फैलती अव्यवस्था को लेकर चिंतित थे।

इसीलिए दोनों एक साथ होकर भी सोच के अलग-अलग छोर पर पहुँच गए थे।

रूपलाल बोले-

"बेटा सिंहेश्वर, किसी न किसी तरह हम तुमसे दो गुना उम्र के हैं। तेरे पिता कन्हाई भैया से भी भाईचारा निभाते आए हैं।

इसलिए जो होगा, सो होगा, पर अभी तो दोनों परिवारों का दो-तीन महीने का काम चलाने लायक जुगाड़ तो है ही।”

रूपलाल की बात सुनकर सिंहेश्वर बोले-

"काका, आप पिता के समान हैं। दुनिया में कहीं कुछ भी हो जाए, पर पिता या पितातुल्य काका के मन में कभी बेटे या भतीजे के प्रति कुदृष्टि नहीं होती। लेकिन...।”

सिंहेश्वर की बात अधूरी ही रह गई।

रूपलाल के मन में जैसे स्नेह का सैलाब उमड़ पड़ा। जिस तरह तपस्या से प्रसन्न होकर भोलेनाथ किसी को भी वरदान देने को तत्पर हो जाते हैं, वैसे ही रूपलाल आत्मीय भाव से सिंहेश्वर की ओर झुक आए और बोले-

"बेटा सिंहेश्वर, जब तक आँखें देख रही हैं, तब तक जीवन की आशा बनी रहती है।

मरने के बाद, जब आँखें बंद हो जाएँगी, तब परलोक में क्या होगा, यह देखने कौन आएगा।

किसी भी विपत्ति में क्यों न पड़ें, पर तुम्हें...।"

'तू' शब्द सुनते ही सिंहेश्वर के भीतर जैसे उम्मीद की एक किरण जग उठी।

उन्होंने अपने मन से कहा कि जब एक पुरुष और एक स्त्री का संबंध पूरी सृष्टि को जन्म दे सकता है, तो हमारा तो केवल दो परिवारों का आपसी संबंध है। मन खोलकर सिंहेश्वर बोले-

"काका, मन कहता है कि हमारी आमदनी जैसी है, आपकी भी वैसी ही है।

परिवार भी एक जैसे हैं।

आप अपने लिए जो वस्तु लाए हैं, क्या उसमें से मेरा लेना उचित होगा?"

सिंहेश्वर की यह बात सुनकर रूपलाल का मन और भी भर आया।

वे भावुक स्वर में बोले-

"बेटा, जब तक बाज़ार में वस्तुएँ उपलब्ध हैं, तब तक हमारे दोनों परिवार भी चलते रहेंगे।

बीच में हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहने से क्या होगा?

जीवन के लिए कुछ करना भी तो ज़रूरी है।

जब हाथ-पैर सही-सलामत हैं, तो यह सोचने की क्या ज़रूरत कि हम समय के अनुसार खुद को नहीं ढाल सकते।

जीवन चलाने के औज़ार तो हमारे हाथ ही हैं।"

रूपलाल की बात सुनकर सिंहेश्वर के मन में यह विचार उठने लगा कि समय कैसे गहराता है, और हर परिस्थिति कैसे अपने भीतर एक नई दिशा समेटे रहती है।

उन्हें लगा मानो जीवन अपने आप कोई गूढ़ पाठ पढ़ा रहा हो।

वे नम्र स्वर में बोले-

"काका, जब तक आप जीवित रहेंगे, तब तक मैं भी महाभारत के भीम की तरह आपके पीछे खड़ा रहूँगा।” ❑

2

☰

अन्य गाँवों की तरह सुकलाराही में भी रात होते ही कोलाहल मच गया। “कोरोना आ गया! कोरोना आ गया! सब कुछ बंद हो जाएगा! दिन रात कर्फ़्यू रहेगा! मिलिट्री शासन लागू होगा! हर किसी को दो गज की दूरी रखनी होगी, मुँह पर मास्क लगाना पड़ेगा, और बार बार हाथ धोने होंगे!”

भोर तक कई घटनाएँ घट चुकी थीं। हालाँकि लाउडस्पीकरों से लगातार प्रचार हो रहा था, लेकिन अफरा तफरी थमने का नाम नहीं ले रही थी। चाय की दुकान पर रोज की तरह दस बारह लोग बरामदे में चाय पीते हुए बतिया रहे थे कि तभी पुलिस की गाड़ी आ पहुँची। गाड़ी से उतरते ही पंद्रह बीस सिपाही अनियंत्रित होकर लाठियाँ बरसाने लगे। कुछ लोग भागकर गलियों में छिप गए, पर कुछ को जमकर मार पड़ी। पुलिस ने चाय की दुकान का सारा सामान जब्त कर गाड़ी में भर लिया और वहाँ से चली गई। पूरे गाँव में दहशत फैल गई।

बाल बोध राजदेव अपने मित्र रामेसर से मिलने निकला। वैसे गाँव में अब तक ऐसा माहौल नहीं बना था कि कोई किसी से मिलने में हिचकता। चाय की दुकान वाली घटना सुकलाराही ही नहीं, आसपास के कई गाँवों में हो चुकी थी। सब लोग अब सतर्क रहने लगे, कि कहीं कोई घटना तो नहीं घटी।

राजदेव जैसे ही रामेसर के घर पहुँचा, रामेसर का बड़ा भाई मोतीलाल उस पर झपट पड़ा और डाँटते हुए बोला-

“भागा कि नहीं भागा?”

'भागने' का नाम सुनते ही राजदेव डर से काँप उठा और तुरंत मुड़कर घर की ओर भाग चला। रास्ते भर उसका मन डर से थरथराता रहा। घर पहुँचते पहुँचते वह इतना घबरा गया कि आँगन में प्रवेश करते ही धड़ाम से गिर पड़ा।

राजदेव को गिरता देख सिंहेश्वर और भुली दौड़कर आए। उन्होंने उसे उठाकर बिस्तर पर लिटाया और पंखा झलने लगे। मार्च का अंतिम सप्ताह था। मौसम ठंड का था। फिर भी डर के कारण राजदेव पसीने से तर बतर हो गया। कुछ देर बाद होश आने पर वह धीरे धीरे उठकर बैठ गया।

सिंहेश्वर ने कोमल स्वर में पूछा-

"बउआ, क्या हुआ था?"

राजदेव डरते हुए बोला-

"पापा, रामेसर के यहाँ गया था कि उसके भैया बहुत जोर से मारने दौड़े थे। अगर नहीं भागता, तो बहुत मारते।"

राजदेव की बात सुनकर सिंहेश्वर हैरान रह गए। लेकिन भुलिया ने सांत्वना देते हुए कहा-

"बउआ, अगर कोई तुम्हें डाँट-डपट कर कहे कि आगे-पीछे मत जाओ, तो हम भी उसी तरह कहेंगे। अब किसी के यहाँ जाने की जरूरत नहीं है। स्कूल भी बंद हो गया है, तुम अपने कोने में बैठो। जहाँ जी चाहे, वहीं रहो। जब पढ़ने का मन हो, तब पढ़ना, नहीं तो सोते-बैठे रहना।"

भुलिया की यह संजीदगी और बेटे के प्रति चिंता सिंहेश्वर को अच्छी लगी। वह समझ गए कि किसी एक व्यक्ति की गलती के कारण समाज के किसी को आने-जाने से रोकना उचित नहीं है। हालांकि सिंहेश्वर के मन में यह विचार पूरी तरह नहीं उभरा कि समाज के कितने परिवारों के लिए रास्ते खुले हैं और कितनों के लिए बंद हो चुके हैं।

राजदेव का स्कूल-सहपाठी रामेसर है, इसलिए मित्रता के नाते उसके आने-जाने की राह बनी हुई है। लेकिन जहाँ परिवार में कोई स्कूल का साथी नहीं है, वहाँ वैसे ही रास्ते बंद हो जाते हैं।

सिंहेश्वर बोले-

"बेटा, अब जब तुम्हारा जन्म गरीब माता-पिता के घर में हुआ है, तो हम कर भी क्या सकते हैं? पर मन में इच्छा है कि तुम्हें पढ़ाएँ। इसलिए हम एक वक्त भूखे रह लेंगे, लेकिन तुम्हें ज़रूर पढ़ाएंगे।"

पिता की यह बात सुनकर राजदेव के मन में माता-पिता के कर्तव्यों के प्रति गहरी समझ पैदा हुई। उसी क्षण उसके अंदर भी कर्तव्य के प्रति संकल्प का बीज अंकुरित हुआ।

अन्य गाँवों की तरह सुकलाराही में भी गाँव वालों और सिपाहियों के सहयोग से चारों ओर रास्तों पर बाँस के खूँटे गाड़कर टोह बना दी गई और रास्ते बंद कर दिए गए।

जिस तरह दूसरे दिन सब्जीवाली गाँव में घूम घूमकर सब्जी बेच रही थी, उसी तरह आज भी वह आई हुई थी। उसे देखते ही रघुनाथ झपटकर पहुँचा और डाँटने लगा, पर कोई भी उसकी बात मानने को तैयार नहीं था। मुसलमान परिवार की सुलेखा ने रघुनाथ की डाँट सुनी, पर चुपचाप रास्ते पर खड़ी रही।

इसी बीच सुरतिलाल, यानी हिन्दू परिवार का एक और व्यक्ति, साइकिल पर तरकारी लेकर गाँव पहुँचा। उसे देखकर सुलेखा बोली-

"भैया, रघुनाथ तरकारी बेचने से मना कर रहा है, घूमकर जा रही हूँ।"

सुलेखा की बात सुनकर सुरतिलाल के मन में संदेह तो हुआ, पर उसकी जरूरतें ज़्यादा थीं और कुछ परिवारों से उसका व्यक्तिगत जुड़ाव भी था, इसलिए वह घबराया नहीं।

हालाँकि रघुनाथ के व्यवहार से उसके मन में असमंजस ज़रूर उत्पन्न हुआ, पर उसी के साथ एक तरह की हिम्मत भी आई। उसके भीतर विचार उभरा, यह गाँव सिर्फ रघुनाथ का नहीं है कि वह किसी को आने से रोके या भगा दे। अगर कोई रोकेगा, तो उसे कह दूँगी कि तुम्हें किसी को रोकने का अधिकार नहीं है। गाँव की बाँध, सड़क और गलियाँ सब गाँव वालों की हैं।

और अगर इसके बावजूद कोई गाली दे या हमला करे, तो जवाब दिया जाएगा। मारेगा तो मारेंगे।

सुरतिलाल आगे बढ़ा और अपना काम करने लगा। पर सुलेखा चुपचाप मुड़कर अपने गाँव लौट गई।

उस दिन झंझारपुर हाट का दिन भी था। जैसे आम तौर पर हाट के दिन व्यापारी रात से ही आने लगते हैं, वैसे ही भोर होते ही हाट जम गया।

व्यापारी हों या खरीदार, हाट खचाखच भरा हुआ था कि अचानक चार पाँच मिलिटरी गाड़ियाँ आ पहुँचीं। पचास से अधिक सैनिक गाड़ियों से उतरकर लाठियाँ लेकर हाट पर टूट पड़े।

बिना किसी चेतावनी के लाठियाँ बरसने लगीं। पूरे हाट में अफरा तफरी मच गई। कौन कहाँ गिरा, किसे कहाँ चोट लगी, किसी को कुछ समझ नहीं आया।

लछमीपुर की सुधिया दादी और सोनिया दादी बीस वर्षों से सब्ज़ी का व्यापार करती आ रही हैं। उनके पास अपने खेत नहीं हैं, इसलिए वे गाँव के किसानों और झंझारपुर स्टेशन के व्यापारियों से सब्ज़ियाँ खरीदकर लाती हैं। हाट के दिन यहीं बेचती हैं और बाकी दिनों में गाँव-गाँव घूमकर सब्ज़ी बेचती रहती हैं।

दोनों ही कम संसाधन वाले परिवारों से हैं। उनके पति वर्षों पहले गुजर चुके हैं और बेटे भी नहीं हैं, इसलिए वे अकेले ही अपना का भरण-पोषण करती हैं। पूँजी की कमी के बावजूद उनका व्यापार कभी पूरी तरह बंद नहीं हुआ। इतनी कमाई हो जाती है कि घर और परिवार की व्यवस्था चल जाती है।

इनके रोज़मर्रा के रास्ते और रूट एक जैसे हैं और घर-परिवार भी एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं।

पूँजी की कमी कभी स्थायी नहीं रही। जब किसी कारण उनकी पूँजी अटक जाती, तब गाँव के किसान, जिनसे वे सब्ज़ी खरीदती थीं, उन्हें उधार दे देते थे। झंझारपुर स्टेशन के व्यापारी भी उधारी पर माल दे देते थे।

सुधिया दादी और सोनिया दादी के बीच का संबंध वर्षों से वैसा ही बना हुआ है। दोनों के बीच व्यापार का रिश्ता किसी परिवारिक रिश्ते जैसा है। वे बाकी व्यापारियों की तरह नहीं हैं, जो दुनिया की बातें तो सच्चाई से करते हैं लेकिन लेन-देन में झूठ बोलते हैं।

हालाँकि सुकलेराही गाँव में किसान कई तरह की सब्ज़ियाँ उपजाते थे, लेकिन इन दिनों माहौल देखकर सब सशंकित हो उठे हैं। किसानों ने खेत से सब्ज़ियाँ निकालना भी बंद कर दिया है।

किसानों के मन में यह भय बगल के गाँव कुमारपुर की घटना से उपजा था। खबर थी कि वहाँ तेरह–चौदह लोग, जिनमें पुरुष और स्त्रियाँ दोनों शामिल थे, गेहूँ काट रहे थे। वे सभी दस–बारह कट्ठे के खेत में पंक्तिबद्ध होकर काम कर रहे थे कि तभी सड़क से पुलिस की गाड़ी गुजरती दिखाई दी।

खेत में काम करते लोगों को देखकर गाड़ी रुक गई। आठ–दस सिपाही उतरे। लाठी तो नहीं चलाई, लेकिन सबको दो–चार तमाचे ज़रूर जड़ दिए। स्त्रियाँ सिसकने और रोने लगीं। उनका सामूहिक रुदन इतना तीव्र था कि अगल–बगल के गाँवों तक उसकी आवाज़ पहुँच गई। हर ओर कान खड़े हो गए।

जब व्यापार ठप हो गया, तब सुधिया दादी और सोनिया दादी दोनों एक जगह बैठकर अपने जीवन की परेशानियों और धंधे की बातें करने लगीं।

सुधिया दादी बोलीं-

"दो–चार दिन की ही दिक्कत है। खाने–पीने की चीज़ों का कारोबार अपना ही है। इनके बिना लोग कितने दिन तक रह पाएँगे?"

लेकिन सुधिया दादी की बातों का वह असर सोनिया दादी पर वैसा नहीं हुआ, जैसा होना चाहिए था। इसका कारण था कुमारपुर की वह मारक घटना, मतलब गेहूँ काट रहे लोगों पर पुलिस द्वारा की गई मारपीट। उस घटना ने सभी के मन में ऐसा भय भर दिया कि सब कुछ धुँधला-सा लगने

लगा।

जब मन से सब कुछ छूटने लगे, तब रोज़गार या धंधे की चिंता भी अर्थहीन हो जाती है।

हिम्मत हारकर सोनिया दादी बोलीं-

“दीदी, अब जीने की कोई आशा नहीं बची। जिनके घरों में पुरुष हैं, वे उन्हीं पर आश्रित हैं। पर...।”

उनके टूटते शब्दों ने सुधिया दादी के मन में जैसे बाँसुरी की टीस भर दी। लेकिन पचास वर्षों के जीवन-अनुभव ने उन्हें संभाल रखा था। उन्होंने सोनिया दादी के टूटी हिम्मत को सहलाते हुए, दृढ़ता से कहा-

“सोनू, इस दुनिया में हमने किसी और पर भरोसा कर के जन्म नहीं लिया। हमने अपने ही भरोसे जन्म लिया है और अपनी ही आशाओं के सहारे जीना है। इसलिए मन को इतना ढहाने की जरूरत नहीं है।”

काँपती आवाज़ में सोनिया दादी बोलीं-

“दीदी, घर में कुछ भी नहीं बचा है। रास्ते भी बंद हो चुके हैं। अब क्या उपाय करें?”

उनकी बात सुनकर सुधिया दादी का मन भी भीतर से हिल गया। लेकिन मन की मजबूती यही है कि वो अपनी सीमा में रहकर भी टिकता है। जैसे अपनी शक्ति के अनुसार जीना होता है, वैसे ही दूसरों की निर्बलता देखकर स्वयं भी कमजोर नहीं पड़ना चाहिए।

सुधिया दादी ने कहा-

“सोनू, हमारे समाज में आपसी स्नेह और सहानुभूति हमेशा रही है। न किसी ने किसी को जानबूझकर दुख दिया- न किसी ने छल–कपट किया, न झूठ बोलकर किसी को धोखा दिया। अगर समाज बचा रहा, तो हम भी जी लेंगे। लेकिन अगर समाज ही खत्म हो गया, तो अकेले जी कर क्या करेंगे?

भले ही तुम गरीब हो और तुम्हारे पास कुछ न हो, पर इतना भरोसा

तो अपने हाथ में है कि जब समय बदलेगा, तब मेहनत करके अपने जीवन को सँभाल सकेंगे।"

सुधिया दादी की बात सुनते ही सोनिया दादी के भीतर जैसे जीवन की अंतिम सीमा जाग उठी। उस अनुभूति के साथ उनके मन में यह भाव आया कि जीवन तो किसी भी हाल में जीना ही है, लेकिन अब उसमें आशा नहीं बची। तब उन्होंने बीच की राह पकड़ने का निर्णय लिया, मरते हुए भी किसी तरह जीते रहना।

सोनिया दादी बोलीं-

"दीदी, आपको देखकर ही मैं जी रही हूँ, नहीं तो क्या ऐसा समाज हमें जीने देता? दूसरी विधवाओं की तरह मुझे भी धक्का देकर भगा देता।"

उनके स्वर में थोड़ा संतोष सुनकर सुधिया दादी ने पूछा-

"क्या बात है सोनू?"

सवाल सुनते ही सोनिया दादी बच्चे जैसी सहजता में मुस्कराईं और बोलीं-

"दीदी, आप तो पूरे दिन अपने काम में लगे रहते हैं, इसलिए समाज या दुनिया की बातें समझते नहीं। लेकिन मेरी तो रोज़ रेखा की माँ से बात होती है। वही गाँव की सब बातें जानती हैं और मुझे सब कुछ बताती हैं।"

सोनिया दादी को समाज से इतनी आत्मीयता से बात करते देख सुधिया दादी ने पीछे से हल्के स्वर में पूछा-

"क्या सारी बातें रेखा की माँ से ही होती हैं?"

सुधिया दादी उम्र में लगभग दो साल बड़ी थीं। जैसे किसी और के कहे हुए शब्द मन में चुपचाप घर कर लेते हैं, वैसे ही सोनिया दादी ने अपनापन भरे स्वर में कहा-

"दीदी, कैसे विधवाओं को समाज में धक्का देकर, अपमानित करके रखा जाता है, ये आप नहीं समझते हैं।"

सुधिया दादी सब कुछ भलीभाँति समझती थीं, पर उन्होंने अपने

जीवन और आचरण की सीमाएँ स्पष्ट रूप से तय कर रखी थीं। जहाँ समाज दूसरों की बहू-बेटियों को वेश्या की दृष्टि से देखता है और अपनी बहू-बेटियों को धर्ममूर्ति मानता है, वहाँ उन्होंने अपने वैधव्य को पतिव्रता की मर्यादा की तरह निभाया था।

ऐसा जीवन जीना किसी बच्चे का खेल नहीं था। लेकिन उन्होंने सोनिया दादी के मन की बात को जानने के लिए बोली-

"क्या कह रही हो, सोनू?"

समाजसेवा की भावना जिस तरह सामाजिक कार्यों में ऊर्जा बनकर बहती है, उसी तरह सोनिया दादी के भीतर भी विचारों का प्रवाह जाग उठा। उन्होंने कहा-

"दीदी, समाज इतना निर्लज्ज हो गया है कि किसी पुरुषविहीन स्त्री को 'डायन' कहकर आग में झोंक देता है और किसी को वेश्यावृत्ति अपनाने पर मजबूर कर देता है। संपत्ति और अधिकार हड़पने के लिए उसे चरित्रहीन और कुलटा कहकर बदनाम कर देता है। ऐसे समाज में अपने स्त्रीत्व की रक्षा करना कोई साधारण बात नहीं है।"

सोनिया दादी की बात सुनकर सुधिया दादी ने अपने मन की व्यथा दबाते हुए बहुत धीमे स्वर में कहा-

"क्या कहा?"

यह पूछते हुए उन्होंने जैसे सोनिया दादी के सामने एक खाली, परती ज़मीन रख दी, वही ज़मीन जो वर्षों से अनुपजाऊ पड़ी थी, जहाँ चलने का रास्ता तक मिट चुका था।

ऐसे में यही उचित था कि वे स्वयं तय करें कि किस दिशा में बढ़ना है। परती ज़मीन में भले काँटे और झाड़ियाँ उगी हों, पर चलना तो उसी पर पड़ता है, कभी किसी को थामते हुए, कभी किसी को छोड़ते हुए।

सोनिया दादी बोलीं- "दीदी, अपना ही दिन तो पहाड़ जैसे लगते हैं, वहाँ दूसरों का बोझ उठाना आसान नहीं।"

सोनिया दादी ने अपनी बात बहुत सादगी से कही थी, लेकिन सुधिया दादी ने उसके गहरे अर्थ को महसूस किया। उनके मन में यह विचार उठने लगा कि यदि इंसान अपने ही बल पर खड़ा होना सीख ले, तो दुनिया कितनी सहज और सुगम बन जाए।

दोनों दादियाँ बातों में मग्न थीं कि तभी भगवानपुरवाली आकर बीच में बोल उठी,

"दादी, जुल्म हो गया!"

यह सुनते ही सुधिया दादी और सोनिया दादी चौंक गईं। वे उत्सुकता से उसकी ओर देखने लगीं, लेकिन वह कुछ पल चुप रही। तब सुधिया दादी ने कोमल स्वर में पूछा-

"क्या हुआ, कन्या?"

जैसे कोई लेखक कथा आरंभ करने से पहले भूमिका बाँधता है, वैसे ही भगवानपुरवाली ने गंभीर स्वर में कहा-

"अन्याय हुआ है, घोर अन्याय हुआ है।"

भगवानपुरवाली की बात सुधिया दादी को पूरी तरह समझ नहीं आई, लेकिन बात जानने की उत्सुकता इतनी बढ़ गई कि वे खुद को रोक नहीं सकीं। उन्होंने जिज्ञासापूर्वक कहा-

"कन्या, अब मन की बेचैनी मत बढ़ा, साफ–साफ बता, क्या हुआ?"

सुधिया दादी की बात सुनते ही भगवानपुरवाली बोली-

"दादी, रमखेतारीवाली मर गई!"

यह सुनकर सुधिया दादी स्तब्ध रह गईं। उन्हें विश्वास ही नहीं हुआ। उन्हें तो पहले से मालूम था कि रमखेतारीवाली गर्भवती है, फिर उसकी मृत्यु कैसे हो गई? उम्र भी मुश्किल से बीस–बाइस साल की रही होगी। ऐसा कैसे हो गया?

चिंतित स्वर में सुधिया दादी ने पूछा-

"थोड़ा विस्तार से बताओ, कन्या। वह कैसे मरी?"

मन को सँभालते हुए भगवानपुरवाली बोली- “दादी, कल शाम से ही उसे पेट में दर्द शुरू हो गया था। आठवाँ महीना चल रहा था।”

सुधिया दादी ने तुरंत पूछा-

“दाई को क्यों नहीं बुलाया?”

भगवानपुरवाली बोली-

“दादी, ज्यों ही रमखेतारीवाली को दर्द शुरू हुआ, दोनों बाप–बेटे—कुसुमलाल और उसका बेटा—इधर–उधर दौड़े, पर कोई भी आने को तैयार नहीं हुआ।”

सुधिया दादी फिर बोलीं- “दाई ने क्या कहा?”

भगवानपुरवाली ने जवाब दिया-

“दाई ने कहा कि रमखेतारीवाली आठ महीने की गर्भवती है और उसे कोरोना हो गया है। वहाँ जाकर क्या हम भी मरें?”

भगवानपुरवाली के मुँह से ‘कोरोना’ का नाम सुनकर सुधिया दादी सोच में पड़ गईं। मन ही मन विचार करने लगीं, इस बीमारी के तो कोई साफ़ लक्षण नहीं दिखते, फिर लोग ऐसे झटके में क्यों मर जाते हैं? न बुखार, न घाव, न कोई निशान। फिर भी चारों ओर भय फैला हुआ है।

दाई के व्यवहार पर मन-ही-मन क्षोभ प्रकट करते हुए उन्होंने कहा-

“अब दाई को कौन पूछता है! अब तो सब कुछ डॉक्टरों के हाथ में है। लेकिन कुसुमलाल पतोहू को डॉक्टर के पास क्यों नहीं ले गया?”

डॉक्टर का नाम सुनते ही भगवानपुरवाली ने कहा-

“दादी, कुसुमा भैया ने कोई जगह नहीं छोड़ी। हर ओर गए, लेकिन किसी ने दरवाज़ा तक नहीं खोला। किसी ने मुँह पर मक्खी तक नहीं बैठने दी।”

सुधिया दादी ने फिर पूछा- “डॉक्टर ने क्या कहा?”

भगवानपुरवाली बोली- “डॉक्टर ने तो पहले ही सब कुछ बंद कर दिया है। अपने घर में बीवी को लेकर बैठे हैं। जब कुसुमा भैया और उनके

बाबू रमखेतारीवाली को जिंदा लेकर डॉक्टर के पास पहुँचे, उसी तरह लाश बनाकर लौट आए।”

अब तक सोनिया दादी चुपचाप दोनों की बातें सुन रही थीं। लेकिन भीतर–ही–भीतर उनके मन में डर की एक परत फैल गई थी। जीवन की बची–खुची आस जैसे बुझने लगी थी। उन्हें लगने लगा कि कहीं यह बीमारी उन्हें भी न जकड़ ले, एक ऐसी बीमारी जो हवा की तरह फैलती है, और शायद लोगों की बातों, साँसों और आवाज़ों से भी पहुँच सकती है।

पर उन्होंने मुँह से कुछ नहीं कहा। बस चुप रहीं। ❑

3

☰

रात के ठीक दस बजे मनचितलाल को बेटे का फ़ोन आया। मोबाइल की घंटी सुनते ही वे चौंक उठे। इतनी रात में फ़ोन किसका हो सकता है, यह सोचकर उनका मन घबरा गया।

अब तक जब भी बेटे रोहित का फ़ोन आता था, वह दिन में ही आता था। रोहित एक लोहे के कारखाने में काम करता है। वहाँ चौबीसों घंटे काम चलता है और ड्यूटी तीन पालियों में बँटी होती है। रोहित की ड्यूटी रात की पाली में रहती है, शाम आठ बजे से भोर चार बजे तक।

रात की ड्यूटी के कारण रोहित की दिनचर्या पूरी तरह उलट गई है। जब बाकी लोग दिन में काम करते हैं और रात में सोते हैं, उसके लिए रात ही दिन बन गई है। वह रात भर काम करता है और दिन भर सोता है।

लेकिन मनचितलाल के लिए तो रात, रात ही होती है। इसलिए रात दस बजे मोबाइल की घंटी बजते ही उनका मन आशंका से में गया कि इस समय कौन फ़ोन कर रहा है।

मनचितलाल एक साधारण परिवार के व्यक्ति हैं। पढ़ाई-लिखाई से उनका कोई गहरा नाता नहीं रहा। यह केवल उनकी व्यक्तिगत स्थिति नहीं है, बल्कि उनके जैसे असंख्य परिवारों की सच्चाई है, जिनमें अब तक ज्ञान की देवी सरस्वती ने प्रवेश नहीं किया।

ऐसा नहीं कि गाँव में सरस्वती पूजा नहीं होती। बल्कि दूसरे गाँवों की तुलना में सुकलाराही में यह पूजा अधिक भव्यता और श्रद्धा से मनाई जाती है। गाँव के लोगों का विश्वास है कि जितनी अधिक श्रद्धा और उत्साह से

पूजा की जाएगी, देवी उतनी ही प्रसन्न होंगी और ज्ञान की वर्षा करेंगी।

मनचितलाल को उनका पहला मोबाइल फोन उनके बेटे रोहित ने ही दिया था। उसी के माध्यम से बाप-बेटे के बीच बातचीत होती थी। परंतु मनचितलाल की मोबाइल दुनिया बहुत सीमित थी। वे उन लोगों में से नहीं थे जो मोबाइल को पूरा संसार मानते हैं। उन्हें यह भी नहीं पता था कि यह छोटा-सा यंत्र एक ऐसी दुनिया है जिसमें पूरी दुनिया समाई हुई है। उनकी मोबाइल की दुनिया सीमित थी, इसलिए वे न तो किसी का नंबर पहचानते थे, न नाम और न ही पता।

अंग्रेज़ी वैसे भी बहुतों को कठिन लगती है, लेकिन मनचितलाल के लिए उसे समझ पाना लगभग असंभव था।

घंटी बजते ही मनचितलाल ने मोबाइल उठाया। रिसीव करते ही कानों में किसी के रोने की हिचकी जैसी आवाज़ पड़ी। आधे सोए और आधे जागे मनचितलाल आवाज़ पहचानने की कोशिश करने लगे। उन्हें लगा कि शायद यह रोहित ही है, पर किसी अज्ञात कारण से मन में विश्वास नहीं हो रहा था। रोहित वैसे भी थोड़ा अनाड़ी स्वभाव का युवक था। जैसे कुछ लोग रोने को बड़ा और बोलने को छोटा समझते हैं, वैसा ही उसका भी स्वभाव था। उसे लगता था कि जब सब जानते हैं कि हम भी इंसान हैं, तो जीवन की आवश्यकताएँ, सुख-दुख, उम्मीदें और तकलीफ़ें सबके लिए एक-सी होती हैं। ऐसे में अपने मन की बात छिपाने की क्या ज़रूरत है?

मनचितलाल अपने विस्तर पर थे। नींद आने ही लगी थी, पर अधूरी नींद मोबाइल की घंटी से टूट गई। उन्होंने जल्दी से फोन उठाया। संयोग से उनकी पत्नी देवसुनरी भी रसोई का काम निबटाकर पास ही आ गई थीं। मोबाइल से आती हिचकी की आवाज़ सुनते ही उन्होंने पहचान लिया कि यह रोहित की आवाज़ है। बोलीं-

“बौआ का रोने की आवाज़ है।”

“बौआ” शब्द सुनते ही मनचितलाल के भीतर कुछ पिघल गया। जैसे किसी ने मन पर ठंडा पानी डाल दिया हो। उसी क्षण उनका मन मान गया।

उन्होंने स्नेह से कहा-

"बौआ, रोहित!"

"हाँ," उधर से जवाब आया।

रोहित की बात समझने से पहले ही मनचितलाल ने आश्वासन भरे स्वर में पूछा-

"बौआ, हमारे होते हुए, तूँ क्यों रो रहा है?"

रोहित बोला-

"ऐसी विपत्ति में फँस गया हूँ बाबू कि अब रोने के अलावा जीवन में कोई आशा नहीं बची।"

यह सुनते ही मनचितलाल सशंकित हो उठे। मन में कई आशंकाएँ उमड़ पड़ीं। वे सोचने लगे कि साधारण विपत्तियाँ तो हर किसी पर आती हैं। कोई भी व्यक्ति बिना पाँच रुपए के भी अपने को संकट में मान लेता है। लेकिन जहाँ रोने के अलावा जीवन की सारी आशा समाप्त हो जाए, वहाँ निश्चय ही कोई असाधारण और गहरी विपत्ति आ पड़ी होगी।

विपत्ति की बात सुनते ही मनचितलाल का मन जैसे शून्य हो गया। वे अर्धचेतना की स्थिति में पहुँच गए और उनके मुँह से शब्द नहीं निकल पाए। बेटे की टूटी-फूटी हिचकियों से भरी आवाज़ सुनकर जब पति का चेहरा पत्थर-सा हो गया, तो देवसुनरी ने उनके हाथ से मोबाइल ले लिया और बोलीं-

"बौआ, रोने से कुछ नहीं होता। बताओ, कैसी विपत्ति में फँस गए हो। विपत्ति तो सबके जीवन में आती है, पर हर विपत्ति की तीव्रता अलग होती है।"

रोहित बोला-

"माँ, नौकरी चली गई।"

बेटे के मुँह से यह सुनकर देवसुनरी के मन पर कोई विशेष असर नहीं हुआ। वे सहज स्वर में बोलीं- "तो क्या हुआ बौआ? एक जगह काम छूटा है

तो दूसरी जगह मिल जाएगा। जब शरीर स्वस्थ है और हाथ-पाँव काम करते हैं, तो दुनिया इतनी भी छोटी नहीं कि कोई काम ही न मिले।"

रोहित का मन भीतर से टूट चुका था। वह अपनी सारी पीड़ा उढ़ेल देना चाहता था, लेकिन भीतर कहीं कुछ उसे रोक रहा था। उसे लगा कि जब माँ-बाप पहले ही उम्र और बीमारी के कारण थके हुए हैं, तो अपनी विपत्ति उन पर लादना ठीक नहीं होगा। लेकिन मन का दूसरा हिस्सा कहता था कि अगर बेटा अपनी व्यथा माता-पिता को नहीं बताएगा, तो फिर किससे कहेगा। अगर माँ-बाप जीवित न होते, तब बात और होती। अब विचारों को छिपाकर रखना उसे अनुचित लगने लगा।

वह बोला-

"माँ, यहाँ कोरोना नाम की बीमारी की ऐसी हवा चल गई है कि न दवा काम आ रही है, न डॉक्टर। मिलिट्री ने चौबीसों घंटे सबको खदेड़ रखा है।"

देवसुनरी उसके शब्दों का पूरा अर्थ नहीं समझ पाईं, लेकिन यह जरूर जान गईं कि बेटे की बातों में कोई गंभीरता है। फिर भी यह कह देना कि वे कुछ नहीं समझीं, उन्हें उचित नहीं लगा। इसलिए वे बोलीं-

"बौआ, गाँव के भी बहुत लोग मुम्बई में हैं। तूँ अकेला थोड़े ही है। अपने संगी-साथी के पास जा और किसी तरह अपना काम सँभाल।"

रोहित की हिचकियाँ और तेज हो गईं। उसने अपने को सँभालते हुए कहा-

"माँ, गाँव-घर के जो लोग थे, वे सब अलग-अलग जगहों पर काम करते हैं। मैं यहाँ बिल्कुल अकेला हूँ।"

देवसुनरी अब भी 'कोरोना' की बात पूरी तरह समझ नहीं पाई थीं। गाँव के माहौल में उस बीमारी की चर्चा तो होने लगी थी, लेकिन उसका असर उनके मन पर नहीं पड़ा था। उनका जीवन अब भी घर और परिवार के रोज़मर्रा के कामकाज तक सीमित था।

माँ-बेटे की बातचीत सुनकर, यानी देवसुनरी और रोहित के शब्दों को

ध्यान से सुनते हुए, मनचितलाल ने गहरी साँस ली और बोले- “बौआ, गाँव ही लौट आ। वहाँ का सब काम छोड़ दे। घर आ जा।”

पिता की बात सुनकर रोहित बोला-

“पापा, जब से कारखाना बंद हुआ है, तभी से वहाँ के सारे लेबर को बिना किसी हिसाब-किताब के निकाल दिया गया है। मिलिट्री के डर से भी निकाल दिया गया। सब कुछ ठप हो चुका है। खाने-पीने की कोई दुकान खुली नहीं है और सड़क पर गाड़ियाँ भी नहीं चल रही हैं।”

मनचितलाल ने कभी मुंबई नहीं देखी थी, लेकिन वे गाँव के अपने ढंग से ही शहर की कल्पना कर रहे थे। शहर में मिलिट्री की जो कार्रवाई हुई है, वह गाँव तक नहीं पहुँची थी, इसलिए उसके व्यवहार की उन्हें सटीक जानकारी नहीं थी। वे बोले-

“यहाँ से अब मैं क्या कर सकता हूँ? वहाँ की स्थिति तो तुम ही समझ सकते हो। तुम्हारा क्या विचार है?”

रोहित ने कहा- “ऐसा सुनसान-सा शहर हो गया है। हम जैसे काम से निकाले गए मजदूर सड़क पर भटक रहे हैं। ऊपर से सड़क पर इतनी मिलिट्री गश्त लगी है कि दो लोग एक साथ ठहर भी नहीं सकते।”

रोहित की बात पूरी होने से पहले ही फोन में फिर रिंग बजी, जिसे मनचितलाल ने भी सुना। रिसीव करने से पहले रोहित ने कहा-

“पापा, आप फोन पर बने रहिए। पहले कुछ और समझ कर बताता हूँ, फिर बात करता हूँ।”

गाँव के साथी सुंदरलाल का फोन आया। सुंदरलाल और रोहित दोनों मैट्रिक पास करने के बाद धियानीलाल के साथ मुंबई गए थे। धियानीलाल पढ़े-लिखे नहीं थे, लेकिन देह-धचा और बोलचाल में वे प्रभावशाली लगते थे। मुंबई के लोगों की तरह का व्यवहार वे कभी पूरी तरह समझ नहीं पाए। बीस साल पहले गाँव छोड़ने के बाद वे बहुत कम ही वापस लौटे। गाँव वालों की नजर में धियानी आज भी वही धियानी थे, नाम और धन के कारण पहचाने जाने वाले।

मुंबई जैसे शहर में बूढ़े शरीर और अपनी मेहनत से पहचान बनाना आसान नहीं रहा। फिर भी जब किसी मोहल्ले या आस-पास के गाँव में किसी फैक्ट्री या काम पर मजदूर चाहिए होते, तो काम अक्सर धियानीलाल के माध्यम से ही चलता था।

कोरोना की हवा उठते ही, यानी बीमारी के पहले ही झोंके में, मिलिट्री ने धियानीलाल को पकड़ लिया। उसी के साथ रोहित के मन से भी उम्मीदें गायब हो गईं।

चौबीस घंटे सड़क पर खड़े रहने की बात सोचते-सोचते रोहित के मन में विचार आया कि अगर सड़क पर ही मरना है, तो क्यों न गाँव की दिशा पकड़ ली जाए। गाँव में भी बहुत से लोग हैं जो अन्न-पानी के अभाव में मरने को तैयार हैं। हम में भी कुछ ऐसे ही लोग हैं। जिसकी गति होगी, वही गति हमारी भी होगी। यही सोचकर रोहित ने अपना झोला कंधे पर लटकाया और गाँव की ओर निकल पड़ा।

रास्ते में भीड़ उमड़ रही थी। लोग धड़ाधड़ चल रहे थे, मगर किसी से कोई बातचीत नहीं थी। किसी के पास खैनी-बीड़ी तक नहीं थी। यात्रियों के चेहरों पर डर और बेचैनी थी, और साथ ही बंदूक लिए मिलिट्री का साया भी।

'मरता क्या नहीं करता' जैसी भावना रोहित के मन में भी उठी। उसने सोचा, अगर मरना ही है तो अपनी मातृभूमि की मिट्टी पर मरना ही बेहतर होगा। उसके मन में यह भी विचार उठे कि पिछली पीढ़ी की मशीनों का व्यापार खत्म हो रहा है और नई मशीनें घरों में जगह ले रही हैं। इसका असर मजदूरों पर पड़ेगा। छंटनी बढ़ेगी, और नए तरह के लोगों की मांग होगी। डॉक्टर जैसे बुद्धिजीवी वर्ग तक अब अपनी ज़िंदगी से हार मानते दिख रहे हैं। यही समय का खेल चल रहा था। ❑

4

☰

महिने भर में समाज के भीतर जो उथल-पुथल मची, उसके कई रंग सामने आए। कुछ लोगों का कहना था कि जब कोरोना जैसी जानलेवा बीमारी फैली है, तो सबसे पहले डॉक्टरों और दवा कंपनियों को सतर्क किया जाना चाहिए ताकि देश को जल्द से जल्द इस महामारी से मुक्त किया जा सके। ऐसे में सैनिकों की बंदूक की क्या ज़रूरत है?

कुछ लोग यह भी कह रहे थे कि अगर हमारे घर में कोई बीमार नहीं है, तो फिर डरकर चेहरा ढँकने या चुप रहने का क्या मतलब। और जब मन में यह भावना घर कर जाए कि तुम भी रोगी हो और मैं भी, तो फिर सेहत की बात ही कहाँ रह जाती है। जब कोई स्वस्थ ही नहीं रहेगा, तो इलाज कौन करेगा। पहले अपने इलाज की ज़िम्मेदारी खुद लेनी होगी तभी हम दूसरों से कह सकेंगे कि हम इस रोग का इलाज कर रहे हैं या हमारे द्वारा इलाज संभव है।

किसी ने यह भी सवाल उठाया कि क्या आपने देखा नहीं, परसों शराब से भरा ट्रक पकड़ा गया। वह कहाँ से आ रहा था। रास्ते में सैनिक क्यों नहीं थे कि उसे रोका जा सके। एक तरफ लोग कोरोना से जूझ रहे हैं, दूसरी तरफ कुछ लोग शराब पी-पीकर अपनी सेहत और बिगाड़ रहे हैं। उन्हें कौन रोकेगा।

गाँव का माहौल ऐसा हो गया था कि रोज़मर्रा की ज़रूरत की चीजों की कमी महसूस होने लगी। इसका असर हर व्यक्ति पर पड़ रहा था। महीनों से राजदेव एक शब्द भी नहीं पढ़ पाए थे। जो कुछ पहले पढ़ा था, वह भी

अब उन्हें निरर्थक लगने लगा था। साथियों का सहयोग भी पूरी तरह खत्म हो चुका था।

सिंहेश्वर अपने आँगन में बैठा था, जहाँ पूरा परिवार उसी पर निर्भर रहता था। उसका खुद का कामकाज पूरी तरह ठप हो चुका था। यही कारण था कि वह परिवार के सामने कुछ भी कहने की हिम्मत नहीं जुटा पा रहा था। न पत्नी से कुछ बोल पा रहा था, न ही बेटे से कोई ढाढ़स या सकारात्मक बात कह रहा था। खाने-पीने की कमी से जो दुःख था, वह अलग ही चल रहा था।

राजदेव ने जब अपनी बुझती हुई ज़िंदगी को देखा तो उसके मन में भी यही खयाल आया कि जब न किताबें हैं और न पढ़ाने वाले शिक्षक, तो अब जो भी करना होगा, हमें ही करना होगा। काम के पेड़ पर ही तो मीठे फल लगते हैं।

राजदेव ने सिंहेश्वर से कहा-

"पापा, स्कूल भी बंद हो गया है और इतने दिन साथी लोग यहाँ से किताबें लाकर पढ़ा करता था, अब वह सब भी बंद हो गया है। तो हम भी किताब खरिदेंगे।"

हालाँकि स्थिति ऐसी थी कि किताबों की दुकानें बंद थीं और किताबें मिलना मुश्किल था, फिर भी यह बात राजदेव के मन में बचपन की जिज्ञासा और उम्मीद के कारण उठी ही नहीं। दूसरी तरफ, सिंहेश्वर नमक-तेल जैसी बुनियादी ज़रूरतों की चिंता में इतने पस्त हो चुके थे कि उनका जीवन अब एक टूटी-फूटी साइकिल की तरह किसी तरह खड़खड़ाता चला जा रहा था।

उन्हें यह भी मालूम था कि विद्यार्थियों को स्कूल से ही किताबें मिलती हैं। इसलिए किताबें खरीदने का खर्च उठाने से वह खुद को मुक्त समझ रहे थे। उनके मन में यह भी आया कि यह कुछ वैसा ही है जैसे पहले महाजनी प्रथा में होता था, महाजन बही में शून्य डाल देता था, जिससे कर्जदार को लगता था कि कर्ज माफ हो गया है, पर असल में वह कर्ज फिर भी किसी न किसी रूप में सिर पर मंडराता रहता था।

जब बेटे की पढ़ाई के लिए किताब की समस्या हल होती सी लगी, तो उन्हें यह बात समझ नहीं आई कि बेटा बार-बार किताब खरीदने की बात क्यों कर रहा है, जबकि स्कूल अभी भी बंद हैं। सिंहेश्वर ने पूछा-

"बौआ, जब सबको स्कूल से किताब मिलती है, तो औरों के पास है, तेरे पास क्यों नहीं?"

राजदेव बोला-

"पापा, पूरे क्लास में सिर्फ पाँच लड़कों को किताब मिली है। बाकी सबके पास नहीं है।"

बेटे की यह बात सिंहेश्वर को कुछ जमी नहीं। उन्हें लगा कि जब किताबें बाँटी गई हैं, तो केवल पाँच छात्रों को ही क्यों मिलीं और बाकी को क्यों नहीं। फिर उन्होंने अपने मन को समझाया कि राजदेव अभी बच्चा है, शायद उसे पूरी बात का ठीक से पता नहीं होगा। उन्होंने सोचा कि इस बारे में मास्टर साहब से जाकर पूछना चाहिए।

इसके बाद उनके मन में एक और विचार आया, जैसा अक्सर सबके मन में आता है। जहाँ एक ओर लोग पढ़ाई-लिखाई को माँ सरस्वती की सेवा मानते हैं, जो शुभ्र, स्वच्छ और शीतल समीर जैसी मानी जाती हैं, वहीं दूसरी ओर हर जगह, चाहे आँगनबाड़ी हो या मध्यान्ह भोजन योजना, पढ़ाई हो या परीक्षा का परिणाम, विद्यालय भवन हो या पुस्तकालय, हर स्तर पर बेईमानी और घोटालों का जाल फैला है।

जब हर जगह यही स्थिति हो, तो इन संस्थानों में काम करने वाले और इनसे लाभ लेने वाले दोनों की दशा कैसी होगी। और जब पूरा ढाँचा ही भ्रष्ट हो जाए, तो शिक्षा का मंदिर आखिर रहेगा भी या केवल एक जर्जर फूस का ढाँचा बनकर रह जाएगा।

सिंहेश्वर ने अपने मन को यह सोचकर रोका कि वे कोई हनुमानजी तो नहीं हैं, जो लक्ष्मण को शक्ति लगने पर संजीवनी न मिलने पर पूरा पर्वत उठा लाए थे। उन्होंने खुद से कहा- हम तो इंसान हैं। अगर अपने जीवन को एक बार भी कोई संजीवनी मिल जाए, तो हम फिर से कामकाज की राह

पर लौट सकते हैं। हमें क्या लेना राजधानी के दफ्तरों की तरह कागज़ों को एक विभाग से दूसरे विभाग तक घुमाने से। हमें तो सिर्फ इतना चाहिए कि हमारा बेटा किसी तरह मैट्रिक पास कर ले। जिस घर में अब तक किताब या कागज़ का आना नहीं हुआ, वहाँ से सवाल उठना भी कैसे मुमकिन है।

अपने मन को मज़बूत करते हुए सिंहेश्वर ने सोचा कि व्यर्थ ही दूसरे शिक्षकों की बातों में क्यों पड़ा जाए। सबसे अच्छे तो पड़ोसी गाँव के देवकान्त बाबू हैं। वे सीधे, सच्चे और नेक इंसान हैं। उनके व्यवहार में न झूठ है, न बहानेबाज़ी। उनका मानना है कि बच्चों को पढ़ाना ही उनका धर्म है, और जितनी ईमानदारी से वे पढ़ाएँगे, उतना ही अच्छा फल मिलेगा, कम कभी नहीं होगा।

बेटे की यह बात सुनकर कि "किताब नहीं है", सिंहेश्वर के भीतर जैसे कोई बुझती चिंगारी फिर से जल उठी। उन्होंने उसी क्षण देवकान्त बाबू से मिलने का निश्चय किया। जैसे घने काले बादलों से ढका हुआ आकाश अचानक पुरवैया और पछवैया के झोंकों से साफ हो जाता है, वैसे ही सिंहेश्वर के मन का सारा बोझ हट गया और पूरा ध्यान बेटे की पढ़ाई पर टिक गया।

उन्होंने कहा-

“बौआ, किताबों के नाम एक पुर्जे पर लिख दे। भीख माँगनी पड़े तो भी तेरे लिए किताबों का इंतज़ाम कर दूँगा।”

पिता के शब्दों ने राजदेव के बालमन में पढ़ाई के प्रति एक दृढ़ संकल्प जगा दिया। उसने मन ही मन ठान लिया कि अगर बाबू किताबों का इंतज़ाम कर देंगे, तो वह भी जी-जान लगाकर पढ़ेगा और मैट्रिक पास करके दिखाएगा।

राजदेव ने किताबों के नाम लिखकर पुर्जा पिता के हाथ में देते हुए कहा-

“पापा, अगर किताबें मिल जाएँ, तो खुद से भी कुछ-न-कुछ पढ़-लिख लेंगे।”

बेटे की यह बात सुनकर सिंहेश्वर को अपने पुरखों की कही हुई बात याद आ गई-

“घिसने से विद्या चमकती है, न कुछ हो तो थोड़ा-थोड़ा ही सही।” उन्होंने सोचा कि जो व्यक्ति हाईकोर्ट का दरवाज़ा तक नहीं देख पाया, वह कानून के पेच कैसे समझेगा।

मन में फिर एक और विचार उठा। जब मिथिला राज्य मैथिली भाषा के आधार पर बनना है, तब भीतर ही भीतर लोग एक-दूसरे को भाषा से क्यों काट रहे हैं। कोई कहता है, वह पूरब का है इसलिए मैथिली नहीं। कोई कहता है, वह पश्चिम का है इसलिए मैथिली नहीं। कोई कहता है, वह दक्षिण का है इसलिए भी मैथिली नहीं। जब हम खुद ही अपने मुँह से कह देते हैं कि हम मैथिली नहीं हैं, तो फिर किस भाषा के आधार पर राज्य बनेगा और वह राज्य कैसा होगा। कोई भी राज्य साधनों और श्रम से समृद्ध होता है, न कि पिता की दी हुई चार कट्ठा ज़मीन को पाँच बेटों में बाँटकर सोलह धूर में नाचने से।

सिंहेश्वर के मन से कोरोना के सारे प्रतिबंध जैसे हट गए। अब उनके भीतर एक ही विचार स्पष्ट रूप से उभर आया। सबसे पहले देवकान्त बाबू से मिलना ज़रूरी है। वे जो कहेंगे, वही किया जाएगा। सिंहेश्वर खुद तो पढ़ाई-लिखाई की बातों को ठीक से नहीं समझ पाते, लेकिन देवकान्त बाबू तो शिक्षक हैं। ईमानदार लोग हमेशा यही मानते हैं कि जो खुद नहीं जानते, वह जानने वालों से पूछकर ही काम करना चाहिए।

हाँ, समझने वाले भी दो प्रकार के होते हैं। एक वे जो शब्दों में पारंगत होते हैं, और दूसरे जो व्यवहार में निपुण। हर काम का अपना एक व्यावहारिक पक्ष होता है, जो कर्म के अनुसार फल देता है। यह बात तो माननी ही पड़ेगी कि जो व्यक्ति बी.ए. पास है, उसने बी.ए. तक का अनुभव अर्जित किया ही होता है।

गाँव के लोग देवकान्त बाबू को न केवल एक ईमानदार शिक्षक मानते हैं, बल्कि उन्हें एक तरह से विरक्त साधु भी समझते हैं। उन्हें न खाने-पीने

की चिंता होती है, न कपड़े-लत्ते की। कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि वे सबके यहाँ खा-पी लेते हैं और अपने घर आने वालों को भी दिल खोलकर खिलाते हैं। कोई उन्हें सन्यासी कहता है, कोई बतकुच्चन। पर सच यह है कि उनका जीवन साफ, सादा और निष्कपट है। वे अक्सर फटी हुई धोती और पुराना कुरता पहनकर ससुराल या किसी रिश्तेदार के यहाँ चले जाते हैं, पर इससे उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ता। पढ़ने वाले बच्चे उन्हें पिता समान शिक्षक मानते हैं। देवकान्त बाबू खुद अपनी राह को लेकर इतने आश्वस्त रहते हैं कि अक्सर कहते हैं-

"हाथी चलता है बाज़ार में, कुत्ते भौंकते हैं हजार।" समाज का स्वभाव ऐसा ही है।

देवकान्त बाबू अपने स्वभाव के अनुरूप दरवाज़े पर बैठे हुए थे, जब सिंहेश्वर वहाँ पहुँचे। हल्के संकोच के साथ उन्होंने झुककर कहा-

"प्रणाम मास्टर साहेब।"

आवाज़ सुनकर जब देवकान्त बाबू पलटे और देखा कि पड़ोसी गाँव के सिंहेश्वर खड़े हैं, तो मुस्कराकर मज़ाक में बोले-

"सिंहेश्वर, रास्ता कैसे पार किया? बंदूकधारी लोगों ने कुछ नहीं कहा?"

ग्रामीण इलाकों में रास्ते और पगडंडियाँ थोड़ी बदल ज़रूर गई थीं, लेकिन शहर-बाज़ार की तरह पूरी तरह बंद नहीं हुई थीं।

देवकान्त बाबू की बात सिंहेश्वर ने ध्यान से सुनी, पर मन की बात ज़ाहिर किए बिना संयमित स्वर में बोले-

"मास्टर साहेब, आपसे ही एक ज़रूरी काम था, इसलिए आया हूँ।"

सिंहेश्वर की बात सुनकर देवकान्त बाबू के मन में कई तरह के विचार एक साथ घूमने लगे। उन्हें याद आया कि सिंहेश्वर टेम्पो चलाते हैं। रोज़ का किराया या भाड़ा शायद उनका छूटा नहीं होगा, तो फिर आज अचानक क्यों आ गए। फिर सोचा, शायद विद्यालय से कोई काम होगा। लेकिन यह ध्यान आते ही कि स्कूल तो बंद है और शिक्षक भी नहीं जा रहे, उनके आने का

कारण और भी उलझा लगने लगा।

जैसे-जैसे रंग-बिरंगे सवाल उनके भीतर उठते गए, वैसे-वैसे उनके उत्तर भी भीतर ही आने लगे। जब कोई निश्चित बात समझ में नहीं आई, तो देवकान्त बाबू ने सहज भाव से कहा-

“सिंहेश्वर, अब तो ऐसा समय आ गया है जब अपने ही पहचान के लोग भी अनजान लगने लगे हैं।”

देवकान्त बाबू अपने ही ढंग से बोले- और उसी सरलता से सिंहेश्वर ने उत्तर दिया-

“मास्टर साहेब, सुना है कि स्कूल में बच्चों को सरकार की ओर से पढ़ने के लिए किताबें दी जाती हैं। पर मेरे बेटे को क्यों नहीं मिलीं?”

यह शिकायत भरी बात सुनकर देवकान्त बाबू के मन में एक हल्की-सी कसक उठी। उन्हें लगा कि इस तरह की बातों पर बहस करना उचित नहीं। जब उनका काम केवल पढ़ाना है, तो दफ्तर के कामकाज की ज़िम्मेदारी क्यों लें। शांत स्वर में उन्होंने कहा- “सिंहेश्वर, आपके विचार को मैं गलत नहीं कहता। पर पहले स्कूल की स्थिति आपको बता दूँ।”

नई-नई बातें सुनने की चाह में सिंहेश्वर का मन भी उत्सुक हो उठा। उनके भीतर का जोश और बढ़ गया। उन्होंने दृढ़ स्वर में कहा-

“मास्टर साहेब, स्कूल की बात तो हम कुछ नहीं जानते। इसलिए आपसे समझने आया हूँ।”

सिंहेश्वर की यह बात सुनकर देवकान्त बाबू एक क्षण को ठिठक गए। ठिठके इसलिए कि स्कूल में तरह-तरह के काम होते हैं। हालाँकि सिंहेश्वर किताबों की बात पहले ही उठा चुके थे, लेकिन यह भी मुमकिन था कि वे किसी और काम के सिलसिले में आए हों। जो काम उनके अधिकार में है, वह तो किया जा सकता है, पर जो संभव नहीं, उसके लिए साफ-साफ “नहीं" कहना ही ठीक रहेगा।

देवकान्त बाबू ने सीधा सवाल किया- “क्या समझना चाहते हैं, सिंहेश्वर?”

देवकान्त बाबू की सहज और मिलनसार बात सुनकर सिंहेश्वर बोले-

"मास्टर साहेब, नौउए-कौउए-के एक बेटा है। अब तक हमारे खानदान में कोई दस्तखत करना भी नहीं जानता था...।"

सिंहेश्वर की बात पूरी होने से पहले ही देवकान्त बाबू बोल उठे,

"सिंहेश्वर, ऐसा सिर्फ तुम्हारे खानदान में नहीं है। गाँव के बारह से चौदह आना यानी लगभग पचहत्तर से पचानबे प्रतिशत परिवार ऐसे ही हैं, जहाँ अब तक पढ़ना-लिखना शुरू ही नहीं हुआ है। ऊपर से ऐसी हवा चल रही है कि जो दो-चार आना बचे हुए हैं, उनका टिकना भी तय नहीं है।"

देवकान्त बाबू की यह बात सिंहेश्वर को पूरी तरह समझ में नहीं आई। उन्होंने पूछा-

"क्या मतलब, मास्टर साहेब?"

सिंहेश्वर के इस प्रश्न पर देवकान्त बाबू मन-ही-मन सोचने लगे कि सिंहेश्वर पढ़े-लिखे नहीं हैं। पढ़े-लिखों को समझाना जितना आसान होता है, उतना ही कठिन भी। उन्होंने खुद को समझाया कि जो शिक्षक गाँव-समाज से कटकर सिर्फ पढ़ाते हैं, उनके लिए यह समझाना मुश्किल हो सकता है। पर मेरा तो पूरा जीवन इसी समाज में बीता है। मैं इसी में रहकर परिवार भी चलाता हूँ और खुद को भी संभालता हूँ। इंसान की पहचान उसके कर्म से होती है। जब विद्यालय में हूँ, तब मैं शिक्षक हूँ और सिंहेश्वर अभिभावक। लेकिन जब हम गाँव में हैं, तब हमारे बीच भाईचारे का रिश्ता है। तो क्यों न उसी भाव से बात की जाए।

देवकान्त बाबू ने कहा- "सिंहेश्वर, समाज के जो सबसे बड़े डॉक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर, वकील हैं, वे सब इसी समाज से तो निकले हैं।"

देवकान्त बाबू की यह सरल और उद्देश्यपूर्ण बात सिंहेश्वर को समझ में आ गई। उन्होंने सिर हिलाते हुए कहा- "हाँ मास्टर साहेब, यह बात तो सही है, वही लोग हैं।"

सिंहेश्वर की सहमति देखकर देवकान्त बाबू मन ही मन सोचने लगे कि बातचीत के क्रम में उन्होंने चार तरह के पढ़े-लिखे लोगों का ज़िक्र तो

कर दिया है, लेकिन इन चारों के बीच आकाश-पाताल का अंतर भी है। उनका जीवन अलग है, शिक्षा अलग है। यदि इन सबको एक साथ मिलाकर बात आगे बढ़ाई गई, तो बात उलझ जाएगी और जिसे समझाना है, वह शायद बात को ठीक से न समझ पाए। इसलिए बेहतर होगा कि एक-एक कर सबको अलग-अलग समझाया जाए।

यह निश्चय करते हुए देवकान्त बाबू बोले-

“सिंहेश्वर, अभी हमने चार प्रकार के पढ़े-लिखे लोगों की बात की, लेकिन पहले यह समझ लो कि इन चारों में भी कई भेद हैं। इसलिए पहले हम सिर्फ इंजीनियर की बात करते हैं।”

‘इंजीनियर’ का नाम सुनते ही सिंहेश्वर को एक यात्री याद आ गया, जिससे उनकी मुलाकात रेलवे स्टेशन पर उसके परिवार सहित हुई थी। 'सवारी' शब्द का अर्थ दो होता है, वाहन और यात्री। यहाँ उसका मतलब यात्री से था। गाँव से दो कोस दूर रहने वाले, ग्रामीण स्वभाव के सिंहेश्वर ने उस यात्री से पहचान बढ़ा ली थी। वह व्यक्ति जमशेदपुर में टेल्को में इंजीनियर था।

जब सिंहेश्वर उनसे मिलने पहुँचे, तो इंजीनियर साहब और उनकी पत्नी दोनों चुप थे। कुछ देर बाद उनकी पत्नी, सुचित्रा, ने ही बातचीत की शुरुआत की। उसी समय सिंहेश्वर के मन में यह विचार आया कि स्त्रियाँ बड़ी महँगी प्रवृत्ति की होती हैं। चाहे किराया जितना भी तय हो, वे हमेशा दो-चार रुपए कम ही देती हैं।

उन्हें यह भी याद आया कि अक्सर पुरुष भी अपने घर की औरतों जैसे ही होते हैं। जैसे अगर कोई दुकानदार सौ रुपए की साड़ी का दाम पाँच सौ बता दे, तो वह साड़ी महँगी लगने के कारण सुंदर भी लगने लगती है। लेकिन यदि कोई हज़ार रुपए की साड़ी का दाम सौ रुपए कह दे, तो वही साड़ी घटिया प्रतीत होती है।

ख़ैर, सिंहेश्वर को इससे कोई विशेष मतलब नहीं था। उनका कहना था कि अगर कोई पुरुष भी भाड़े में एक पैसा कम देता है, तो वे बेझिझक

उसके मुँह पर कह देंगे,

"मौगियाहा पुरुख छी।"

(अर्थात, स्त्रैण स्वभाव वाला आदमी है।)

इसका मतलब यह नहीं कि ज़िंदगी के हर क्षेत्र में पुरुष वही करते हैं जो उन्हें शोभा देता है और महिलाएँ बस देखती रह जाती हैं। अक्सर पुरुषों को यह झिझक होती कि वे कठिन मेहनत करने वाले सवारी चालक को थोड़ा अतिरिक्त किराया दें। इसलिए सिंहेश्वर ने उस सवारी को कंजूस ही समझा। यह उनका भ्रम था। वे यह नहीं समझ पाए कि अधिक पढ़े-लिखे परिवारों में महिलाओं की भूमिका बड़ी होती है, और वहाँ के पुरुष साधारण मिट्टी के बने होते।

बेचारे सिंहेश्वर कैसे समझते कि कंजूसी और पुरुषत्व में आसमान-ज़मीन का अंतर होता है।

थोड़ा ठहरकर उन्होंने कहा-

"मास्टर साहेब, नाम तो चारों प्रकार के विद्वानो की सुनी है, पर अब तक किसी से मिलना नहीं हुआ।"

यह सुनकर देवकान्त बाबू ने समझाया कि स्कूल में बच्चों को पढ़ाना और समाज में अनपढ़ लोगों को सिखाना, दोनों ही ज़रूरी हैं, पर दोनों की पढ़ाई में फर्क है। स्कूल की पढ़ाई वह धार है जिसे काटा-छाँटा नहीं जा सकता है। लेकिन समाज के अनपढ़ लोगों का जीवन जिस धार में बहता है, वह नदी के मोड़ जैसा होता है, जिसमें काट-छाँट और तोड़-फोड़ की ताकत होती है। जैसे चौड़े बांध को भी नदी अपने रास्ते से मोड़ देती है।

इंजीनियरों के प्रकारों की बात करते हुए देवकान्त बाबू बोले-

"इंजीनियर भी कई तरह के होते हैं, लेकिन हम आमतौर पर सबको एक ही नाम से बुला देते हैं। इसलिए पहले कुछ प्रकार के इंजीनियरों को अपने मन में अलग-अलग करके समझो।"

यह बात सिंहेश्वर को पूरी तरह समझ नहीं आई। उन्होंने पूछा-

“कौन-कौन से प्रकार, मास्टर साहेब?”

देवकान्त बाबू ने समझाया,

“जहाँ कोयला निकाला जाता है, वहाँ के इंजीनियर। जहाँ सोना निकाला जाता है, वहाँ के इंजीनियर। जहाँ तेल, पेट्रोल या डीजल निकाला जाता है, वहाँ भी इंजीनियर होते हैं। और जहाँ बिजली बनाई जाती है, वहाँ भी इंजीनियर काम करते हैं।”

देवकान्त बाबू के विचारों की धारा में अब सिंहेश्वर भी बहने लगे। उन्होंने उत्साह से पूछा-

“मास्टर साहेब, सड़कें और मकान भी तो इंजीनियर ही बनाते हैं न?”

देवकान्त बाबू ने सहमति में सिर हिलाया और कहा-

“हाँ, और जितनी तरह के इंजीनियरों की हमने बात की, उन सबकी पढ़ाई अलग होती है और उनके काम करने के औज़ार भी अलग होते हैं।”

'हाथ के औज़ार' शब्द सुनकर सिंहेश्वर थोड़ा असहज हो गए। उनके लिए औज़ार का मतलब था कोदाली, खुरपी, हँसुआ और हथौड़ी। वे कलम और कागज़ को औज़ार नहीं मानते थे। इसलिए उन्होंने तुरंत कहा-

“मास्टर साहेब, कोदाली, खुरपी, हँसुआ तो किसान के औज़ार हैं और रिंच, हथौड़ी कारखाने के मिस्त्री के। लेकिन कागज़ और कलम तो हाकिम, अफसर और पंडितों के औज़ार हैं। पर आजकल तो इंजीनियरों के हाथ में भी कागज़-कलम देखता हूँ।”

सिंहेश्वर की बात देवकान्त बाबू को गलत नहीं लगी। वे खुद भी जानते थे कि बाहर से सबकुछ ऐसा ही दिखता है, लेकिन उनकी समझ यह थी कि हाथ से काम करने वाला ही औज़ार का उपयोग करता है। सिंहेश्वर यह नहीं समझ पाए थे कि ज्ञान का काम भी औज़ार से ही चलता है, चाहे वह कोदाली हो या कलम। इसी वजह से उन्होंने इंजीनियर को भी अफसरों और पंडितों की श्रेणी में रख दिया।

विचार की धारा को एक नई दिशा देते हुए देवकान्त बाबू मुस्कराकर

बोले-

"सिंहेश्वर, जो बात समझाना चाहता हूँ, उस पर ध्यान दो।"

देवकान्त बाबू की गंभीर आवाज़ सुनकर सिंहेश्वर ने खुद को संभालते हुए कहा-

"अच्छा मास्टर साहेब, बताइए।"

अब जब विचारों का रास्ता थोड़ा स्पष्ट हुआ, तो देवकान्त बाबू बोले-

"सिंहेश्वर, जितने तरह के इंजीनियरों का ज़िक्र हुआ, उनमें से पुरानी पीढ़ी के इंजीनियरों का समय अब खत्म हो गया है। आजकल के लोग चाहे पढ़े हों या न पढ़े, सब एक जैसे हो गए हैं।"

यह बात सिंहेश्वर को पूरी तरह समझ में नहीं आई। कुछ भरोसा हुआ, लेकिन थोड़ा संदेह भी रह गया। हल्की झुँझलाहट के साथ बोले-

"मास्टर साहेब, यह कैसे?"

सिंहेश्वर के सवाल पर देवकान्त बाबू ने महसूस किया कि जो वे कहना चाहते हैं, वह विचार में गहराई लिए हुए है, लेकिन उसे समझाना आसान नहीं। यह वैसा ही है जैसे आकाश का विस्तार मन में समा तो सकता है, लेकिन उसके आयाम शब्दों में व्यक्त करना कठिन होता है। चूँकि सिंहेश्वर का सोचने का दायरा सीमित था, उन्होंने निर्णय लिया कि बात को छोटे और समझने लायक उदाहरणों में ही समझाना ठीक रहेगा।

उन्होंने कहा-

"सिंहेश्वर, पहले तुम ही बताओ कि तुम्हारे हिसाब से इंजीनियर का मतलब क्या होता है?"

सिंहेश्वर ने अपने सहज ग्राम्य ढंग में उत्तर दिया-

"मास्टर साहेब, इंजीनियर का मतलब है अच्छी नौकरी पाने के लिए अच्छी डिग्री हासिल करना।"

सिंहेश्वर की बात सुनकर देवकान्त बाबू ने जैसे कोई मीठा शरबत बनाता है—धीरे-धीरे पानी और चीनी को घोलकर—वैसे ही अपने विचारों

को संयमित स्वर में पिरोते हुए कहा-

"तुम्हारी बात ठीक है, सिंहेश्वर। गाँव के जो पढ़े-लिखे लड़के इंजीनियर बने, वे शहर जाकर ही इंजीनियरिंग का काम करते हैं। इसलिए गाँव में इंजीनियर होने का मतलब लोग समझ ही नहीं पाते। इसमें गलती दोनों तरफ की है, पर फिलहाल उसे छोड़ो।"

देवकान्त बाबू की इस बात से सिंहेश्वर का मन कुछ हल्का हुआ। पर साथ ही यह खयाल भी आया कि जिस काम के लिए वे यहाँ आए थे, वह तो अभी शुरू ही नहीं हुआ और बात किसी और दिशा में जा चुकी है। उन्होंने कहा-

"मास्टर साहेब, आप तो देख ही रहे हैं, मैं टेम्पू चलाकर किसी तरह परिवार चलाता हूँ। लेकिन अब कोरोना की वजह से वह भी बंद पड़ा है। पता नहीं यह सब कब तक चलता रहेगा। ऐसे में बेटे को कैसे पढ़ाऊँ?"

देवकान्त बाबू ने उनकी चिंता को समझते हुए शांत स्वर में कहा-

"सिंहेश्वर, अब तक जो बातें हुईं, उन्हें यहीं रोकते हैं। लेकिन जब तक किसी बात का निष्कर्ष नहीं निकलता, विचार मन में घूमते ही रहते हैं।"

अपनी विवशता ज़ाहिर करते हुए सिंहेश्वर बोले-

"हाँ मास्टर साहेब, बहुत देर हो गई। ऊपर से ऐसा बुरा समय आ गया है कि कोई नहीं जानता, कब क्या हो जाए।"

देवकान्त बाबू बोले-

"इंजीनियर कई प्रकार के होते हैं। लेकिन फिलहाल मैं केवल एक का उदाहरण देता हूँ, जो कोयले की खान में काम करते हैं।"

'कोयला खान' का नाम सुनते ही सिंहेश्वर के मन में वहाँ होने वाली दुर्घटनाओं के दृश्य कौंध गए। उन्होंने तुरंत कहा-

"मास्टर साहेब, एक दिन स्टैंड पर हम लोग, छह-सात टेम्पूवाले, साथ बैठे थे। चाय पी रहे थे और बातें कर रहे थे। तभी तीन सवारियाँ एक साथ आईं...।"

सिंहेश्वर की बात सुनकर देवकान्त बाबू के मन में आया कि यह आदमी बात को जाने कहाँ से कहाँ पहुँचा देता है। लेकिन मन में जो विचार उमड़ रहे होते हैं, वे जब तक निकल नहीं जाते, तब तक कोई दूसरा विचार भीतर जगह नहीं बना सकता। इसलिए बेहतर होगा कि पहले सिंहेश्वर के मन की बात पूरी तरह निकल लेने दी जाए। जिज्ञासावश उन्होंने पूछा-

"कैसी सवारियाँ थीं?"

सिंहेश्वर ने उत्तर दिया-

"मास्टर साहेब, सवारी नहीं, सवारिन थी।"

'सवारिन' शब्द सुनकर देवकान्त बाबू मुस्कराए और हल्के व्यंग्य में बोले-

"रूप-रंग कैसा था?"

जैसे पानी आग को पलभर में बुझा देता है, वैसे ही सिंहेश्वर ने ठंडे स्वर में कहा-

"मास्टर साहेब, गाँव में भीख माँगकर खा लेना अच्छा है, लेकिन कोयले की खान में काम करना ठीक नहीं।"

देवकान्त बाबू समझ गए कि शायद वे किसी दुर्घटनाग्रस्त परिवार की सवारियाँ रही होंगी, जिनकी पीड़ा सिंहेश्वर को भीतर तक छू गई है। लेकिन दुख हो या सुख, लोग बात तो बाँटते ही हैं। उन्होंने पूछा-

"तीनों सवारिनें जब मिलीं, तो उन्होंने क्या कहा?"

यह सवाल सुनते ही सिंहेश्वर की आँखें भर आईं। छाती पर हाथ मारते हुए बोले-

"मास्टर साहेब, बड़ा अनर्थ हो गया था। एक लड़की थी, जिसका ब्याह हुए बस तीन दिन हुए थे। तीनों उसी के साथ जा रही थीं।"

भीतर ही भीतर देवकान्त बाबू का मन भी भारी हो आया, लेकिन उन्होंने अपनी भावनाएँ संयमित रखते हुए पूछा- "मतलब साफ़ नहीं हुआ, सिंहेश्वर। तीन दिन पति के साथ रहने वाली वह कैसी लड़की थी?"

अपना व्याकुल मन सँभालते हुए, गले में अटकती हुई आवाज़ के साथ सिंहेश्वर बोले-

“बेचारी की उम्र बीस-बाईस साल से ज़्यादा न रही होगी। विवाह के पहले की सारी सरलता अब भी उसके चेहरे पर थी। वह तीन दिन से लगातार रो रही थी। दो सहेलियाँ उसके साथ थीं। तीनों साथ जा रही थीं।”

इस गम्भीरता के बीच देवकान्त बाबू ने बात का तनाव थोड़ा हल्का करने के लिए हल्की-सी मुस्कान के साथ व्यंग्य किया-

“तीनों स्त्रियाँ साथ जा रही थीं, तो क्या उस गाँव में पुरुषों की कमी पड़ गई थी?”

‘पुरुष’ शब्द सुनते ही सिंहेश्वर के चेहरे पर एक गंभीरता उतर आई। उन्होंने कहा-

“मास्टर साहेब, अब गाँव में पुरुष कौन बचा है जो बाहर जा कर मुँह उठा सके। अगर उनमें ज़रा भी समझ होती, तो अपने घर की इज़्ज़त और परिवार की नींव इस तरह नहीं ढहने देते। अब तो वे ही पुरुष कहलाते हैं जो औरतों के आँचल में सिर छिपाकर पुरुषत्व का शंख फूँकते हैं।”

देवकान्त बाबू ने पूछा-

“तीनों यात्री एक ही गाँव की थीं?”

“हाँ मास्टर साहेब, हाँ।”

इतना कहकर सिंहेश्वर थोड़ी देर के लिए चुप हो गए। फिर बोले-

“मास्टर साहेब, एक की बात तो आपको बताई, पर जब तीनों की हालत देखी, तो मन जैसे काबू में नहीं रहा। बेचैनी बढ़ती चली गई।”

देवकान्त बाबू ने पूछा-

“बाकी दो कैसी थीं?”

सिंहेश्वर बोले- “संयोग अच्छा रहा, मास्टर साहेब, कि तीनों सवारियाँ दरभंगा तक मेरे ही टेम्पू में रहीं।”

देवकान्त बाबू ने पूछा-

“मतलब?”

सिंहेश्वर ने एक गहरी साँस ली और कहा-

“मतलब यह, मास्टर साहेब, कि रास्ते भर उन्हें आपस में ढंग से बातें करने का मौका मिल गया।”

देवकान्त बाबू ने कहा-

“तो फिर बहुत-सी बातें हुई होंगी?”

सिंहेश्वर बोले-

“सारी बातें तो नहीं हुईं, मास्टर साहेब, क्योंकि जीवन की बातें कभी खत्म नहीं होतीं। लेकिन कोयले की खान से जुड़ी एक घटना उन्होंने ज़रूर बताई।”

‘कोयला खान’ शब्द सुनते ही देवकान्त बाबू के मन में तुरंत 1975 की चासनाला कोयला खदान दुर्घटना की भयावह तस्वीर कौंध गई। उस भयानक हादसे में हज़ारों मज़दूर मारे गए थे। लेकिन कानून के पेच और प्रशासनिक रिपोर्टों ने मौतों की संख्या घटाकर केवल तीन सौ पचहत्तर दिखा दी, ताकि मुआवज़े का बोझ कम पड़े। बाकी मज़दूर ऐसे गुम हो गए जैसे नदी में बहकर कहीं खो गए हों। उनके न कोई नाम रहे, न कोई गिनती।

देवकान्त बाबू के मन में यह भी आया कि चासनाला से पहले 1965 में बेरमो (ढोरी) खान में भी वैसा ही हादसा हुआ था। फिर 1995 में गजली टाँड कोलियरी में, और 2001 में बागडिगा कोलियरी में। मानो कोयला खानों की धरती पर दुर्घटनाएँ नियति बन गई हों।

विचारों से लौटते हुए देवकान्त बाबू ने पूछा-

“तो क्या सारी बातें रास्ते में ही हुईं?”

सिंहेश्वर बोले-

“हाँ मास्टर साहेब, जब हम गाँव के चौक से निकले और लोग इधर-उधर बिखरने लगे, तब तीनों ने बारी-बारी से अपनी-अपनी ज़िंदगी की बातें शुरू कीं। जो बीस-बाईस साल की लड़की थी, उसके पति इंजीनियर थे।

पाँच दिन की छुट्टी लेकर नौकरी से आए थे शादी करने। ससुराल और मायके दोनों ओर विवाह की तैयारियाँ देर से पूरी हो सकीं, इसलिए पत्नी को अपने साथ नहीं ले जा सके। जाते समय उन्होंने कहा था कि छह महीने बाद लौटकर आएँगे और परिवार को अपने साथ ले जाएँगे।"

"बीच में क्या हुआ, सिंहेश्वर?"

देवकान्त बाबू ने धीरे से पूछा।

अपनी बात पर विश्वास दिलाने के लिए सिंहेश्वर बोले-

"मास्टर साहेब, अगर किसी और के मुँह से सुनता, तो थोड़ा-बहुत झूठ लग सकता था। लेकिन ये सब उस बेचारी ने खुद अपने मुँह से कहा था, इसलिए वही कह रहा हूँ।"

देवकान्त बाबू ने हल्के सिर हिलाते हुए सहमति जताई और कहा-

"ऐसा लगता है जैसे तुम्हें अपनी ही बात पर यकीन नहीं। जो मन में है, खुलकर कहो।"

सिंहेश्वर बोले-

"वह महिला बी.ए. पास थी, नाम था साध्वी। अच्छे परिवार की लड़की थी। वैसे तो वह अपने मायके में थी, लेकिन दुर्घटना में पति की मृत्यु की खबर सुनते ही मायका छोड़कर अकेली ससुराल चली आई। ससुराल का पूरा घर शोक में डूबा था, इसलिए कोई उससे बात करने तक नहीं आया। बोलते भी कैसे, जब बेटा ही नहीं रहा, तो बहू किस रिश्ते में रह जाती।"

सिंहेश्वर की यह बात सुनकर देवकान्त बाबू के मन में समाज की वही पुरानी तस्वीर उभर आई, जहाँ आधुनिकता के इस युग में भी विधवा की स्थिति ज्यों की त्यों बनी हुई है। लेकिन उन्होंने यह विचार मन में ही रखा और पूछा-

"बाकी दोनों का क्या हुआ?"

सिंहेश्वर बोले- "दूसरी महिला के पाँच बच्चे थे, तीन बेटियाँ और दो बेटे। सभी स्कूल में पढ़ रहे थे। उसके पति भी कोयला खान में ही काम

करते थे। उसी हादसे में वे भी दबकर मर गए। बेचारी कह रही थी कि जिसके सहारे पूरा परिवार टिका था, वही एक पल में ढह गया। परिवार के ढहते ही उसके लिए पूरी दुनिया अंधेरी हो गई।"

देवकान्त बाबू विचारों में डूबते हुए बोले- "फिर उन्होंने और क्या कहा?"

बीती बातों को याद करते हुए सिंहेश्वर बोला-

"मास्टर साहेब, सारी बातें तो अब याद नहीं हैं, लेकिन एक बात अब तक जेहन में बसी है। वह रोते-रोते कह रही थी कि पाँचों बच्चों को ममता के हवाले छोड़ आई हूँ, और खुद इस दुनिया से जा रही हूँ।"

देवकान्त बाबू ने गंभीर स्वर में पूछा-

"क्या दियाद या गाँव-समाज में कोई पुरुष नहीं मिला जो उन्हें रोक पाता, जब वे खुद को खत्म करने जा रही थीं?"

यह कहते हुए देवकान्त बाबू का मन एक पल के लिए कोमल हो गया। लेकिन फिर उन्होंने सोचा कि यह भी तो संभव है कि वे लोग साल में एक-दो बार ही मिलते हों। ऐसे में सब कुछ जानना और समझना आसान नहीं होता। यह विचार उन्होंने मन में दबा लिया और कुछ नहीं बोले।

इतने में "दियाद-वाद, सर-समाज" की बात सुनकर सिंहेश्वर बोल पड़े,

"मास्टर साहेब, दियाद-वाद तो अड़हर की दाल जैसा होता है, जितना गलता है, उतना ही स्वादिष्ट। खानदान और वंश का नाम तो लेते रहेंगे, लेकिन भीतर-भीतर ऐसे एक-दूसरे पर झपटते हैं जैसे बाघ बिल्ली पर झपटकर पकड़ ले और खा जाए।"

सिंहेश्वर की यह मार्मिक बात सुनकर देवकान्त बाबू भीतर तक मर्माहत हो गए। उनके मन में विचार उठा कि जो समाज सदियों से वैदिक संस्कृति और मर्यादाओं की दुहाई देता रहा है, वही आज अवैदिक क्यों होता जा रहा है? आज भी स्त्रियों को वह किस दृष्टि से देख रहा है? क्या यह केवल नज़रों का दोष नहीं है कि अधिकांश लोग दूसरों की बहू-बेटियों को

वासना की नज़र से देखते हैं? और अगर यह सच है, तो फिर अपनी बहू-बेटियों को वे क्या समझते होंगे? यदि यही समाज का चेहरा बन गया है, तो भला यह समाज कितने दिन टिक पाएगा?

लेकिन उन्होंने यह सब मन में ही रखा और संयम से अपने को सँभालते हुए बस इतना पूछा-

"फिर उन्होंने और क्या कहा?"

सिंहेश्वर को वह दृश्य याद आ गया। बोले-

"मास्टर साहेब, उस महिला के पाँच बच्चे थे, तीन बेटियाँ और दो बेटे। तीनों बेटियाँ बड़ी थीं और उनमें से दो ब्याहने लायक हो चुकी थीं।"

देवकान्त बाबू ने पूछा-

"और तीसरी?"

सिंहेश्वर ने गहरी साँस लेते हुए कहा-

"वह तो दोनों से भी बुरी हालत में थी। उसका एक ही बेटा था, जो झरिया की कोयला खान में काम करता था। उस महिला की उम्र पचास से कम रही होगी, लेकिन गरीबी ने उसे चालीस के बाद ही बूढ़ा बना दिया था। देखने में अस्सी साल की लगती थी। बेटा हर महीने तनख्वाह भेजता था, जिससे वह किसी तरह घर चलाती थी।"

सिंहेश्वर की बात सुनकर देवकान्त बाबू गंभीर हो गए। बोले-

"खेत-पथार उनके पास नहीं रहा होगा शायद। वैसे भी अब तो खेत-पथार वाले भी ज़मीन छोड़ नौकरी की ओर भाग रहे हैं। पहले तो डॉक्टर और इंजीनियर ही दूसरे शहरों या देशों में जाते थे, लेकिन अब तो बिना पढ़े-लिखे लोग भी अमेरिका, इंग्लैंड तक पहुँच रहे हैं।"

कुछ देर मौन रहने के बाद उन्होंने धीरे से पूछा-

"फिर उसने क्या किया?"

सिंहेश्वर ने शांत स्वर में कहा- "मास्टर साहेब, साध्वी न तो नाराज़ हुई, न डरी। बस बोली- 'इस बुढ़िया को अकेला नहीं छोड़ूँगी।' उसी पल

उसके चेहरे पर जो दृढ़ता दिखी, उससे मन भीतर तक काँप गया। वह तुरंत नीचे उतरी और बुढ़िया को सहारा देकर धीरे-धीरे उतारने लगी। बाकी दोनों औरतें थोड़ी देर हिचकिचाईं, लेकिन साध्वी को देखकर वे भी मदद में जुट गईं।”

“हम सबने मिलकर बुढ़िया को नीचे उतारा, बच्चों को मैंने अपने टेम्पू में बैठा दिया और दो लोग बाज़ार की ओर रोटी और थोड़ा अनाज लेने निकल गए। साध्वी चुपचाप बुढ़िया का हाथ थामे बैठ गई, अपने दर्द को भीतर दबाए हुए। उस समय किसी को भव्यता की ज़रूरत नहीं थी, सबको बस एक इंसानी सहारे की ज़रूरत थी। किसी के पास देने को बहुत कुछ नहीं था, लेकिन छोटे-छोटे रुपयों और खाने-पीने की चीज़ों की व्यवस्था किसी तरह जुट ही गई।”

“बुढ़िया के सिर पर जो पुरानी चादर थी, उसी को एक ओर बाँध दिया गया। साध्वी ने चुपचाप अपनी आँखें पोंछीं और सिर झुका लिया। वह बोली- ‘मुझे परिवार का नाम-ठिकाना बता देना, मैं देखने आऊँगी।’ पर सच यह है कि वह खुद भी असहाय थी। हम सबने मिल-जुलकर थोड़ी-बहुत व्यवस्था की, सबको ठीक-ठाक विदा किया और फिर दरभंगा की ओर रवाना हो गए।”

सिंहेश्वर की आवाज़ अब धीमी पड़ गई। उसकी आँखों में अब भी नमी थी। देवकान्त बाबू कुछ नहीं बोले। उस छोटे-से दृश्य में उन्होंने मानवीय करुणा और समाज की विखंडित संवेदना, दोनों को एक साथ देखा।

सिंहेश्वर ने फिर कहा-

“नहीं मास्टर साहब,उसके पास अपना खेत नहीं था । क्योंकि वो खुद बोली थी कि अगर खेत सब भी रहता तो उसे बेचकर परिवार का भरन–पोषण करती, सो भी नहीं है।”

देवकांत बाबु बोले-

"और सब क्या बोली?”

सिंघेश्वर बोला-

तब तक दरभंगा आ गया था। बाज़ार में भीड़ बहुत था। इसलिए मै ही मना कर दिया की अब गप्प-सप्प बंद करिए ,और आगे ध्यान दीजिये ।मेरे बोलते ही वो सब चुप हो गयी।

रेलवे स्टेशन के बगल में टेम्पू सब लगा हुआ था। हम भी टेम्पू लगा कर गेट खोल दिए । और उन सब को उतरने के लिए बोला ।

देवकांत बाबु बोले-

"पहले कौन उतरी"

सिंघेश्वर बोला-

वो उस बुढिया को उतारने की ख्याल से गेट के निचे खड़ी हो गयी। जिससे रास्ता भी बंद हो गया।

देवकांत बाबु बोले-

फिर वो सब उतरी कैसे?

सिंघेश्वर बोला-

साध्वी को बोला की थोड़ा घसक जाओ। जिसपर वो बोली की बूढी को तो पकरकर उतरना पड़ेगा न। फिर हम बोले अभी आप सब शोक-पीड़ा से ग्रसित है, आपलोगों को दिक्कत होगी।

देवकान्त बाबू ने पूछा-

“फिर तुमने क्या किया?”

जैसे कोई व्यक्ति भारी काम पूरा करने के बाद गंभीर हो जाता है, वैसे ही गंभीर होकर सिंहेश्वर ने कहा-

“मास्टर साहेब, परिवार के लिए तो बहुत कुछ करता हूँ। अभी तो कोरोना की बंदी में अपनी हालत भी पस्त हो गई है, लेकिन उस समय ऐसा नहीं था। तब अच्छी कमाई थी और गाड़ी भी नई थी।”

बीच में देवकान्त बाबू ने सिर हिलाया। सिंहेश्वर बोलना रोककर उनके

चेहरे की ओर देखने लगा। लेकिन जब उन्होंने कुछ नहीं कहा- तो वह फिर बोलने लगा-

"मास्टर साहेब, उस बुढ़िया को तसल्ली देते हुए मैंने कहा- 'माँ जी, मैं खूब कमा रहा हूँ। अपने परिवार में किसी चीज़ की कमी नहीं है। आप भी मुझे अपना बेटा समझिए।'"

बेटे का नाम सुनते ही बुढ़िया की आँखें भर आईं। एक ओर उसके कोख से जन्मे बेटे की आत्मा उसे पुकार रही थी, दूसरी ओर मानवीय करुणा का यह नया स्पर्श उसे थामे हुए था। वह गहरे असमंजस में पड़ गई। जैसे उसी क्षण उसके सामने दो पतियों और एक पुत्र की मृत आत्माएँ एक साथ आ खड़ी हुईं। उसकी जुबान बंद हो गई, मुँह से कोई शब्द नहीं निकल सका।

इसी बीच ट्रेन का समय हो गया। टिकट लेना बाकी था। मैंने तीनों औरतों को मुसाफिरखाने में बैठाया और जाकर टिकट ले आया।

सिंहेश्वर की यह बात सुनकर देवकान्त बाबू के मुँह से अपने आप निकल पड़ा,

"वाह!"

'वाह' सुनकर सिंहेश्वर के चेहरे पर जैसे संतोष की मिठास घुल गई। वह मुस्कराते हुए बोला-

"मास्टर साहेब, बहुत देर हो गई है। अब चलता हूँ। जो काम बाकी रह गया है, वह कल आकर पूरा कर लेंगे।" ❑

5

☰

सूरज डूब चुका था, पर अँधेरा अभी पूरी तरह छाया नहीं था। निठल्ले बैठे सिंहेश्वर के मन में विचार आया कि थोड़ी बातचीत कर ली जाए, मन भी हल्का होगा और समय भी कट जाएगा। बरामदे से उठकर वे रूपलाल काका के घर की ओर चल पड़े।

समय काटने का अर्थ दोधारी तलवार जैसा होता है। जैसे कुछ लोग समय को अपने कर्म से काटते हैं, वैसे कुछ को समय ही काटता चला जाता है। जो मजदूर खान या कारखाने में लगातार आठ घंटे गैंता-गैंती चलाकर, फिर दो घंटे का रास्ता तय करके घर लौटते हैं, और वहाँ से फिर जीवन की जद्दोजहद में लग जाते हैं, वही सच में समय को काटते हैं। पर क्या समय का अर्थ केवल श्रम है? नहीं। समय तो काल है, और काल को कोई नहीं काट सकता। फर्क सिर्फ इतना है कि कोई अपने कर्म से काल को साध लेता है, और कोई निष्क्रिय रहकर उसके नीचे दब जाता है। यही अंतर है कर्मशील और अकर्मण्य जीवन का।

जब से कोरोना का प्रकोप फैला है, सब लोग अपने-अपने घरों में निठल्ले बैठे हैं। दो लोगों के बीच दो गज की दूरी और मुँह पर मास्क, बोलना भी जैसे अपराध बन गया है। ऊपर से हाथों का काम भी छिन गया है।

रूपलाल काका के दरवाजे पर पहुँचते ही सिंहेश्वर ने देखा कि काका कुछ कहने को बेताब हैं। मुस्कराते हुए वे बोले-

“काका, दलान पर यूँ भूत की तरह अकेले बैठे थे, अच्छा नहीं लग रहा था, इसलिए चला आया।”

सिंहेश्वर अभी अपनी बात पूरी भी नहीं कर पाए थे कि रूपलाल काका बोल उठे,

"सिंहेश्वर, आज तो लीला हो गई!"

'लीला' शब्द सुनकर सिंहेश्वर के मन में रामलीला और रासलीला का खयाल आया। उन्हें समझ नहीं आया कि इस विपत्ति के समय कौन-सी लीला हो सकती है। वे आश्चर्य से बोले-

"ऐसे कुसमय में कैसी लीला हो गई, काका?"

रूपलाल काका का चेहरा खुशी से चमक रहा था, जैसे कोई पुराना गड़ा खजाना मिल गया हो। उन्होंने हँसते हुए कहा-

"सिंहेश्वर, लगता है पुलिस वाले बिल्कुल पागल हो गए हैं।"

पुलिस पागल है, इससे रूपलाल काका को क्या लेना-देना, जो इतने खुश नजर आ रहे हैं। जैसे किसी और के घर बेटा हुआ हो, और सोहर कोई और गा रहा हो।

सिंहेश्वर के मन में ख्याल आया, अगर पुलिस सचमुच पागल हो गई है, तो उसका परिवार उसे पकड़कर रांची ले जाएगा। इससे आपको क्या लेना-देना है? लेकिन उसने तुरंत अपने विचार को रोका और सोचा कि रूपलाल काका जो बात इतनी खुशमिजाजी से कह रहे हैं, अगर वही बात यहां दोहराई जाए तो उन्हें बुरा लग सकता है। वैसे ही समय ठीक नहीं चल रहा, और हम ऊपर से यह बात कह दें, तो यह तो वैसा हो जाएगा जैसे करेला की सब्ज़ी में नीम का पत्ता पीसकर डाल देना।

इसलिए बात को टालते हुए सिंहेश्वर ने एक मीठी मुस्कान के साथ कहा- "काका, पुलिस ने ऐसी क्या पगलपंथी की है जो आप उन्हें पागल कह रहे हैं?"

सिंहेश्वर का सवाल सुनकर रूपलाल काका जवाब देना छोड़ ठहाका लगाकर हँसने लगे।

हँसी और ठहाके में फर्क होता है।

एक होता है- अकेले हँसना या अकेले ठहाका मारना।

दूसरा- सबके साथ मिलकर हँसना या ठहाका मारना।

यहाँ रूपलाल काका की हँसी पहले श्रेणी की थी, जिससे खुद से ज्यादा दूसरों को हँसी आती है।

सिंहेश्वर के मन में ख्याल आया, आखिर समय ही तो काटना है, और कट भी रहा है। जब काका का हँसते-हँसते मन भर जाएगा, तब शायद कुछ गंभीर बात करेंगे।

और जब ठहाके का रुख बदला, तब काका थोड़े गंभीर होकर बोले, “सिंहेश्वर, एनएच के पास से जो रास्ता मधेपुर की तरफ जाता है, वहीं जहाँ से सबका रास्ता अलग होता है, वहाँ पचास-साठ पुलिसवाले पाँच चार-चक्का गाड़ियों में आए। बगल में शीशम का एक पेड़ था, उसे काटकर ऐसा रास्ता बंद कर दिया कि पैदल लोग तो कूदकर पार कर सकते हैं, लेकिन गाड़ियों के लिए रास्ता पूरी तरह से बंद हो गया है।”

सिंहेश्वर के मन में फिर ख्याल आया, ऐसे तो पचासों जगह रास्ता बंद हुआ है, इसमें क्या विशेष बात है कि काका इतने खुश हैं?

रूपलाल काका अब भी हँसी पर काबू नहीं कर पा रहे थे। आँखों के कोनों से आँसू पोंछकर फिर ठहाका लगाया और बोले-

“अरे सिंहेश्वर, तुम समझोगे तब जब सुनोगे। वह जो शीशम का पेड़ काटा गया, पुलिस वाले उसे भली-भाँति जानते थे। उस पेड़ के नीचे रोज़ शाम को पाँच-छह लड़के बैठकर बीड़ी-चुरुट पीते थे। कहते थे कि अगर ओठ पर बीड़ी नहीं बुझाएँगे तो देह में जोश कहाँ रहेगा। बीड़ी बुझाने की उसी फूँक से पुलिस का धैर्य टूट गया। अब बताओ, क्या यही कोरोना से लड़ने का तरीका है?”

सिंहेश्वर मुस्कुरा उठे। उन्हें समझ आ गया कि रूपलाल काका की खुशी किसी साधारण बात की नहीं थी, बल्कि वह प्रशासन की अबूझ हरकतों पर उपजा व्यंग्य था। उन्होंने सहज स्वर में कहा-

“काका, रास्ता बंद कर दिया- लोगों का चलना रुक गया, और अब

गाछ को ही अपराधी बना दिया गया। अब वहाँ बीड़ी कौन बुझाएगा या चिड़िया घोंसला बनाएगी, सबको डर लगने लगा है।"

रूपलाल काका फिर बोले-

"हाँ, ऐसी व्यवस्था हो गई है कि किसी बात का सिर-पैर नहीं रहा। कहते हैं जनता को बचाने के लिए, लेकिन जो तरीका अपनाते हैं, वही खुद बीमारी की तरह फैल रहा है। अब तो पुलिस यह तक कह रही है कि बीड़ी के धुएँ से कोरोना मरता है। तो चलो, पेड़ काटो और धुआँ उठाओ।"

सिंहेश्वर हँस पड़े। मन ही मन सोचा, सचमुच यह अँधकार में उजाले की किरण जैसी बात है। कोरोना और पुलिस की लीला, दोनों ने आदमी को हँसते-रोते रहने पर मजबूर कर दिया है।

उन्होंने कहा-

"काका, आपकी यह लीला तो ठीक है, पर अब दुनिया हँसने से ज़्यादा सोचने पर मजबूर हो गई है।"

रूपलाल काका हँसी रोकते हुए बोले-

"ठीक कहा- सिंहेश्वर। लेकिन अगर सोचते ही रहेंगे तो आदमी की हड्डियाँ भी लोहा बन जाएँगी। चलो, हँसी से ही जीवन चलाते हैं, दुख तो अपना हिस्सा बन ही गया है।"

साँझ गहराने लगी। दोनों कुछ देर चुपचाप बैठे रहे। उस मौन में हँसी और व्यंग्य के पार जीवन का भार धीरे-धीरे उतरता गया।

ऊपर से जो बातें हल्की-फुल्की हँसी का कारण लगती थीं, वे जितनी सतही प्रतीत होती थीं, उतनी ही गहराई लिए हुए भी थीं। कुछ चीजें वास्तव में सतही नहीं होतीं, और कुछ ऐसी भी होती हैं जो मन की तहों में जाकर पानी की पवित्रता की तरह असर करती हैं। कुछ वैसा ही रूपलाल काका के साथ हुआ। वे अचानक बोले-

"सिंहेश्वर, जब पहले दिन रास्ता रोका गया था, उसी दिन तीन शीशम के पेड़ काटे गए थे। वे तीनों पेड़ तीन महिलाओं के बराबर थे। पुलिस की

होहाकार में गाँव के कुछ लफुआ नेता भी शामिल थे। बहुत कम समय में ही सड़क बंद हो गई और रास्ता बन गया।”

सिंहेश्वर ने रूपलाल काका की पहली बात पर कोई विशेष असर नहीं महसूस किया। दूसरी बार भी उनका मन विशेष रूप से प्रभावित नहीं हुआ। इसका कारण यह था कि उन्होंने खुद अपने गाँव में सुना था कि गाँव के पीछे के लफुआ नेता इस तरह रास्ता बंद कर दिया था कि डॉ. शिव कुमार बाबू को अपनी मोटर साइकिल घुमाना पड़ा, जबकि उन्हें एक ज़रूरी काम से गाँव से बाहर जाना था।

सिंहेश्वर बोले-

“काका, जो कुछ आप कह रहे हैं, वह आप अपने मन से कह रहे हैं, पर मेरा मन उसे उस रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं है। कृपया थोड़ा विस्तार से बताइए।”

रूपलाल काका के मन में और भी बातें उमड़ने लगीं। चेहरे पर हल्की मुस्कान के साथ वे बोले-

“पहले यह खबर बस परसों की ही थी, इसलिए तुम उसे भूतकाल की किसी रचना-इतिहास की तरह समझ गए। पर आज जो कुछ हुआ है, वह और भी रसपूर्ण और चौंकाने वाला है।”

रूपलाल काका के भीतर प्रसन्नता थी, लेकिन सिंहेश्वर को उसमें कुछ भी चटपट या हँसी में डूबा नहीं लगा। उसका चेहरा गंभीर था और मन सोच में डूबा हुआ। उसने पूछा-

“काका, क्या आप शनिचर के गुड़-चावल अपने ही खाओगे या किसी और को दे दोगे?”

सिंहेश्वर की बात सुनकर रूपलाल काका मुस्कराए और बोले-

“आज शाम, करीब आठ बजे, साठ-सत्तर पुलिसवाले सात-आठ गाड़ियों पर सवार होकर एनएच से उतरकर मधेपुर-भेजा की ओर चले गए। उन्होंने देखा कि रास्ते में शीशम के खूँटे गाड़कर सड़क जाम कर दी गई थी।”

इतना कहकर रूपलाल काका कुछ क्षण के लिए चुप हो गए।

पुलिस की हलचल सुनकर सिंहेश्वर की जिज्ञासा बढ़ गई। उसने पूछा-

"फिर क्या हुआ?"

रूपलाल काका बोले- "जो होना था, वही हुआ। धमाचौकड़ी मच गई।"

"कैसी धमाचौकड़ी?" सिंहेश्वर ने फिर पूछा।

काका ने उत्तर दिया-

"एक तो लोग वैसे ही पुलिस का नाम सुनते ही डर जाते हैं, ऊपर से तीन दिन की अफवाह ने उस डर को और बढ़ा दिया है।"

बीच में सिंहेश्वर ने हामी भरी,

"वो तो हुआ ही।"

अब तक रूपलाल काका गाँव-घर की बातें उसी सहजता से बता रहे थे जैसे कोई अपनी दुनिया की परिचित घटनाएँ याद करता है। लेकिन सिंहेश्वर के बीच-बीच में पूछने से उन्हें भीतर कहीं हलचल-सी महसूस हुई। कुछ देर चुप रहकर वे बोले-

"सिंहेश्वर, जैसे शास्त्र-पुराणों में बड़े-बड़े यज्ञों का वर्णन है, जिनमें घोड़ा छोड़ा जाता था और जो उसे पकड़ लेता था, उसके साथ युद्ध होता था, वैसे ही...।"

'यज्ञ में घोड़ा छोड़ना' की बात से सिंहेश्वर का मन उतना आकर्षित नहीं हुआ जितना 'शास्त्र-पुराण' शब्दों से। उसकी जिज्ञासा और बढ़ गई। उसने कहा-

"काका, ज़रा धीरे-धीरे और साफ़-साफ़ कहिए, ताकि मैं ठीक से समझ सकूँ।"

उधर, रूपलाल काका के मन में संतोष का एक विशाल वृक्ष जैसे फैल चुका था, पर उन्होंने तत्काल उस भाव को समेट लिया। यह सोचकर

कि आज के दौर की जो तूफानी दौड़ है, उसमें अनुशासन अब वैचारिक नहीं, बल आधारित होता जा रहा है। एक ओर नैतिकता की बातें लाउडस्पीकरों पर दिन-रात गूँजती रहती हैं, वहीं दूसरी ओर अनुशासनहीनता इस हद तक पहुँच चुकी है कि अब व्यवस्था को बंदूक के भरोसे टिकाना पड़ रहा है।

इन तमाम विचारों की परतों के नीचे, जब रूपलाल काका ने सिंहेश्वर के प्रश्न पर ध्यान केंद्रित किया, तो उन्हें महसूस हुआ कि यह सवाल सिर्फ बातों का सिलसिला नहीं है, बल्कि एक गहरा मंथन माँगता है। उन्होंने अपने भीतर से वही कहा जो उन्हें सच लगा।

घटना को आगे बढ़ाते हुए काका बोले-

“करीब साठ-सत्तर पुलिसवाले जब अपने नक्शे के मुताबिक बढ़े, तो रास्ता वहीं मिला जो पूरी तरह जाम था। जब बंदूकधारी एक साथ चलते हैं, तो उनका लक्ष्य एक ही होता है। इसलिए रास्ता साफ़ करने का निर्णय लिया गया। पक्की सड़क को पूरी तरह रोक दिया गया था। उनके पास कोई ऐसा औजार नहीं था जिससे शीशों के खूँटे उखाड़े जा सकें। तब उन्होंने गाँववालों से मदद की उम्मीद की कि शायद किसी घर से कोदाली या खंती मिल जाए। लेकिन पुलिस को देखकर गाँव के लोग पहले ही अपने-अपने आँगनों और दरवाज़ों में सिमट चुके थे। कोई बाहर निकलने को तैयार नहीं था। इधर-उधर दौड़ते लोगों को देखकर पुलिस ने हाथ से इशारा किया, ‘भाई, रुकिए, हमें कोदाली-खंती की ज़रूरत है।’ लेकिन अफवाहों और डर के बीच कोई बाहर नहीं आया।”

वे थोड़ी देर रुके, फिर बोले-

“अपने समय का नुकसान देखकर सभी बेचैन हो उठे थे। सब सोच रहे थे कि जितनी जल्दी सड़क खुलेगी, उतनी ही जल्दी वे अपने काम पर निकल पाएँगे।”

पुलिस की बेचैनी और गाँववालों की घबराहट सुनकर रूपलाल काका का मन खिन्न हो गया। फिर अचानक वे हँस पड़े। उनके साथ सिंहेश्वर

भी ठहाका मारकर हँसने लगा।

सिंहेश्वर को हँसते देख रूपलाल काका बोले-

“सिंहेश्वर, अभी तो बस शुरुआत है, असली हँसी तो आगे है।”

सिंहेश्वर की हँसी अभी तक पूरी तरह थमी नहीं थी, लेकिन उसने होंठ सटाकर किसी तरह उसे दबा लिया। रूपलाल काका एक अजीब-सी स्थिति में पड़ गए। एक ओर गंभीर विचार उठ रहे थे, क्या वाकई बड़े-बड़े शास्त्र-पुराणों की कथाएँ आम लोगों के लिए केवल मनोरंजन बनकर रह गई हैं? क्या वे उनकी गहराई को समझ भी पाते हैं?

जैसे कोई तेज चमकने वाला नेता होता है, जिसके पीछे अरबों-खरबों की कहानियाँ छिपी होती हैं, जिन्हें लोग देख नहीं पाते, फिर भी उसकी बातों पर हँसते रहते हैं। ठीक वैसे ही सिंहेश्वर हँस रहा था।

या फिर यह भी संभव था कि उसके भीतर कोई दूसरी बात चल रही हो, जो हँसी का रूप लेकर बाहर आ रही हो। नहीं तो फिर इतनी हँसी कैसे निकलती? जैसे कोई कहे, हँसी को इतना हँसाया जाए कि वह बाहर निकलकर धरती पर फैल जाए।

रूपलाल काका ने बाएँ हाथ से माथा खुजलाते हुए पूछा-

“छीतना और डोमन को पहचानता है, सिंहेश्वर?”

सिंहेश्वर बोला-

“वही छीतना न, जिसने सोलह बार ब्याह किया है?”

रूपलाल काका हँसते हुए बोले-

“हाँ, वही। छीतना और डोमन पुलिस को देखकर एक साथ भागे थे। छीतना की दौड़ तेज हो गई। डोमन पीछे से बोला, जो पकड़ा जाएगा, उसकी अपनी जान का सवाल है, मुझे कोई दिक्कत नहीं। तब छीतना ने कहा, ऐसा है तो तूँ पूजा-पाठ करने बैठा था क्या? मुझे साथ क्यों घसीटा? पकड़े जाने पर क्या होगा? मुझे जेल देखा हुआ है, तुझे डर क्यों लग रहा है? डोमन बोला, जब तुझे डर नहीं था, तब तूँ भागा क्यों?”

यह सुनकर सिंहेश्वर लोट-पोट होकर हँस पड़ा। उसकी हँसी देखकर रूपलाल काका के चेहरे पर भी भाव उमड़ आए। उन्होंने कहा-

“सिंहेश्वर, समाज अब एक अजीब मोड़ पर आ चुका है। एक तरफ काम नहीं है, तो लोग करें भी क्या। और जो कुछ बचा है, वह भी बंटता जा रहा है।”

फिर बात को मोड़ते हुए काका बोले- “कल हमारे गाँव में जो हुआ, वह सुना क्या, सिंहेश्वर?”

सिंहेश्वर ने जवाब दिया-

“नहीं, काका। किसी से न मुलाकात हुई, न कोई गँठजोड़। कहाँ से गाँव का हाल-चाल पता चलता?”

रूपलाल बोले-

“वैसा ही तो मुझे भी पता चला है। पर पुरुषों के जरिए खबरें अक्सर रुक जाती हैं, जबकि महिलाओं के बीच रिश्तों के कई रास्ते होते हैं। घास छीलने से लेकर मोबाइल तक अब इतनी सुविधाएँ आ गई हैं कि खबरें उन चैनलों से मिल ही जाती हैं।”

सिंहेश्वर ने पूछा-

“काका, कौन-सी घटना बताने वाले हैं आप?”

रूपलाल काका बोले-

“हैरनावाली की। वह सब्जी बेचने के लिए टोला जाती है, क्योंकि अब तो हमारा गाँव भी बाजार जैसा ही हो गया है। सब्जी-फल से लेकर दूध-दही तक का सारा सामान अपने-अपने घरों में ही रहता है।”

रूपलाल काका का ध्यान जैसे विषय से भटक गया था। उनके सोच में डूबे शब्दों को बीच में ही काटते हुए सिंहेश्वर बोला-

“काका, आप हैरनावाली की बात कर रहे हैं या गाँव के बाजार की?”

सुनकर रूपलाल काका मुस्कराए, फिर थोड़ा सँभलकर बोले-

“हाँ-हाँ, हैरनावाली की ही बात कर रहा हूँ। जब वह टोला जाकर

सब्जी बेचने लगी, तो देखा कि सड़क पर भयंकर जाम लगा हुआ है। जाम इतना बँधा था कि उस पार जाना ही मुश्किल हो गया। तीन दिन पहले लाया गया सब्जी का ढेर अब खराब हो रहा था। कमाई डूबती देखकर हैरनावाली भीतर ही भीतर टूट रही थी, लेकिन कोई भी उसका दुःख समझने नहीं आया।"

"उसने सोचा, क्या यही हमारा समाज है? क्या यही वह समाज है जिसे हम भगवान मानते हैं? जहाँ एक-दूसरे के बीच जीवन का लेन-देन ही ईश्वर की देन समझा जाता है?"

व्यापार का रास्ता बंद पाकर जब हैरनावाली घर लौटी, तो उसे यह महसूस हुआ कि क्या सिर्फ मैं ही हूँ जिसकी आजीविका चौपट हो गई है? नहीं, मेरे जैसे कितने लोग हैं जिनकी ज़िंदगी अब ठहर गई है। गाँव के चूल्हे-भट्ठे से लेकर दुकान-ठेले तक सब कुछ जैसे थम सा गया है। खेतों का काम रुक गया है, जिससे खेतिहर मज़दूरों की रोज़ी छिन गई है। रिक्शा, टेम्पू, हाट-बाजार, हर जगह ठहराव छा गया है।"

फिर रूपलाल काका थोड़ी देर चुप हुए, और आगे बोले-

"तुलसीदास ने सोलहवीं सदी के समाज की तस्वीर खींचते हुए कहा था कि जब किसान की खेती न चले, व्यापारी का व्यापार ठप हो जाए, और भिखारी को भी भीख न मिले, तो लोग यही कहेंगे, 'भाई, अब क्या करेंगे, कहाँ जाएँगे?'"

काका की बात पर ध्यान केंद्रित करते हुए सिंहेश्वर सुनता रहा।

"हैरनावाली के मन में यह विचार उठा," काका बोले-

"कि क्यों न अपने जैसे कारोबारियों से बात की जाए। जाना जाए कि वे इस कठिन समय को कैसे काट रहे हैं, कौन-से उपाय अपना रहे हैं।"

सिंहेश्वर और रूपलाल काका बात कर ही रहे थे कि उसी बीच राजदेव आ पहुँचा। बेटे को देखते ही सिंहेश्वर बोला-

"काका, बच्चे तो अब बिगड़ ही गए हैं।"

सिंहेश्वर की बात रूपलाल काका को कुछ हद तक समझ में आई, लेकिन पूरी तरह नहीं। उन्होंने पूछा-

“कह रहे हो, धिया-पुता बिगड़ गए हैं, सिंहेश्वर?”

सिंहेश्वर के होठों पर जैसे उत्तर पहले से तैयार था। वह बोला-

“काका, बाबू जब रिक्शा चलाकर शाम को लौटे, तो एक दिन बोले- ‘बेटा, बड़ी इच्छा थी कि तुम्हें पढ़ाऊँ, पर अपने जीवन में वह नहीं कर सका। अब तो दिन-ब-दिन शरीर की ताकत घटती जा रही है। इसलिए अंतिम समय में आखिरी बात कह रहा हूँ, मुझे तो तुम्हें पढ़ाने का अवसर नहीं मिला, लेकिन तुम अपने बेटे को ज़रूर पढ़ाना। जब से हमारे बाप-दादों का जमाना शुरू हुआ है, तब से अब तक परिवार में किसी को भी अक्षर-ज्ञान नहीं मिला।’”

“बाबू की बात उसी दिन मैंने जीवन के संकल्प की माला में पिरो ली थी। उसे गले में डाल लिया, मन में बसा लिया... लेकिन...।”

सिंहेश्वर की बात सुनकर रूपलाल काका के मन में गहरी हलचल उठी। उन्होंने सोचा, ‘सिंहेश्वर का संकल्प तो ऊँचा है, लेकिन जब तक आदमी जीवन के मूल तत्त्व को नहीं पकड़ता, तब तक उसकी चाल आगे नहीं बढ़ती।’

बचपन में तो सब यही सोचते हैं कि पढ़-लिख लें, लेकिन जब समाज की असल तस्वीर सामने आती है, तब असली धरातल का अनुभव होता है। जो व्यक्ति केवल हवा में उड़ता है, वह राड़ी-डबहारी के फूल की तरह होता है, जो एक देश से दूसरे देश उड़ता है, पर धरती पर जड़ नहीं पकड़ता।

फूल वही माना जाता है जो पेड़ पर खिलकर अंततः धरती पर गिरे और मिट्टी में मिल जाए। मरने के बाद भी वह मिट्टी बनकर फिर जीवन का हिस्सा बनता है।

उसी क्षण रूपलाल काका ने राजदेव की ओर देखकर पूछा-

“बेटा, तूँ आया क्यों था?”

काका का प्रश्न सुनकर सिंहेश्वर का मन कसक उठा। भीतर ही भीतर सोचने लगा-

"जैसे बाबू कहकर चले गए, क्या मुझे भी वैसे ही जाना होगा?"

जीवन की हार-जीत के बीच झूलते हुए सिंहेश्वर बोला-

"काका, परिवार तो है ही, हजार तरह की परेशानियाँ हमेशा बनी रहती हैं। मतलब यह कि कोई-न-कोई समस्या तो सदा रहती ही है। इसलिए मन हमेशा टँका रहता है कि परिवार में किसे क्या जरूरत है या कौन किस तकलीफ में है।"

सिंहेश्वर की बात को पकड़ते हुए रूपलाल काका बोले-

"यही टँके रहना ही जागना है। इसी को पकड़ना होता है, सिंहेश्वर।"

'जागना' शब्द सुनकर सिंहेश्वर के मन में हलचल हुई। अब तक वह 'जागना' को केवल नींद से उठना समझता था, लेकिन यहाँ तो बिस्तर तक नहीं था, फिर रूपलाल काका ने 'जागना' क्यों कहा?

उसने पूछा-

"क्या जागना, काका?"

सिंहेश्वर की जिज्ञासा देखकर रूपलाल काका मन ही मन सोचने लगे, अपने विचार को सिंहेश्वर के मन में बो देना चाहिए। पर यह काम केवल शब्दों से नहीं हो सकता; यह तो तभी संभव है जब विचार भीतर से स्वयं अंकुरित हो।

मनुष्य अगर अपने भीतर संकल्प रोप दे, तभी उसका जीवन सार्थक होता है। और फिर, अपने जीवन में जो कर्तव्य हमारे हिस्से आए हैं, उन्हें ही पूरी क्षमता से निभाना चाहिए। किसी और का कर्तव्य छीनने की कोशिश करना उतना ही अस्वाभाविक है, जितना अपने मौलिक कर्तव्य से मुँह मोड़ना।

हल्की मुस्कान के साथ रूपलाल काका बोले-

"सिंहेश्वर, तुलसी बाबा कह गए हैं, 'गृह कारण नाना जंजाला।' जब

गृह का निर्माण करोगे, गृहस्वामी बनोगे, तभी तो गृह ठहरेगा।"

इन शब्दों की गूँज सिंहेश्वर के मन में वैसे ही उतरने लगी जैसे मध्ययुग के दरबारी कवियों की वाणी समाज को भीतर तक बहा ले जाती थी। बहते स्वर में उसने कहा-

"काका, इस 'जागना' का मतलब थोड़ा साफ़-साफ़ समझाइए।"

सिंहेश्वर की उत्सुकता देखकर रूपलाल काका ने मन ही मन सोचा, सिंहेश्वर कुछ तो है, पर अपनी समझ से एक स्तर नीचे है। अगर उसके साथ तर्क में उलझा गया, तो वह आत्मघात जैसा होगा। क्योंकि जो व्यक्ति अपने ही ज्ञान से खुद को काटने लगता है, उसका पोषण कौन करेगा?

इस विचार के साथ काका के मन को एक अनकही शांति मिली।

उन्होंने कहा-

"सिंहेश्वर, अंधेरी रात है। देख ही रहा है, दिन-रात सिपाही-पुलिस बंदूक लिए घूमते रहते हैं और लोगों से कहते हैं कि दो आदमी साथ न बैठें। अच्छा यही होगा कि अभी तूँ चल, कल भोर में नीचे आकर बात करेंगे।"

लेकिन सिंहेश्वर के मन में 'जागना' को लेकर जो जिज्ञासा उठी थी, वह इतनी तीव्र थी कि वह शांत हुए बिना एक कदम भी नहीं बढ़ा सका। जैसे कोई बालक किसी विषय की जड़ तक पहुँचने के लिए अपनी सारी शक्ति झोंक देता है, वैसे ही उसके भीतर भी जीवन-जागरण की जड़ को पकड़ने की व्याकुलता थी।

उसने कहा-

"काका, अब तो कुछ-कुछ समझ में आने लगा है। जो रोटी पहले किसी मेहमान के सामने रखने में अपमान लगता था, वही रोटी आज जब अतिथि आता है, तो गर्व से कहा जाता है कि हम तो रोटी ही खाते हैं, भात तो डॉक्टर ने मना कर दिया है।"

सिंहेश्वर की इस गहराती सोच को रूपलाल काका ने भाँप लिया। वे बोले-

"सिंहेश्वर, आज नहीं, वर्षों से हमारे दोनों परिवार साथ-साथ रहे हैं। जबसे तुझे देखा है, तभी से यह समझा है। ज़रा आँख उठाकर देख, दोनों परिवारों में कितनी एकता है और साथ ही कितनी भिन्नताएँ भी।"

रूपलाल काका की बातों ने सिंहेश्वर के मन में गहराई से असर किया। उनके विचार जैसे गरुड़ के पंखों की गति बनकर मन में गूँज उठे। लेकिन जैसे साँप प्रवचन सुनकर भी अपना मार्ग छोड़ता, वैसे ही सिंहेश्वर भी अपनी जगह से टस से मस नहीं हुआ।

तब रूपलाल काका मुस्कराए और बोले-

"सिंहेश्वर, आज दिन में खाना नहीं खाया था, इसलिए दुखना माँ से कह दिया था कि शाम को भानस पका लें। बाकी बातें कल नीचे बैठकर विस्तार से करेंगे।" ❑

6

☰

दूसरे दिनों की अपेक्षा आज की भोर को लेकर सिंहेश्वर के मन में एक अलग ही अनुभूति थी। उसे लग रहा था मानो यह किसी और रंग की भोर हो। भोर तो भोर ही होती है, जागरण का क्षण। लेकिन क्या यह मान लिया जाए कि वर्ष के तीन सौ पैंसठों दिन की हर भोर एक जैसी होती है? नहीं, ऐसा मानना उचित नहीं। कभी भोर का सूरज लालिमा लिए आकाश में उगता है, तो कभी वह काजल-सी काली मेघों की ओट में छिप जाती है। फिर भी हर दिन और रात अपनी नियति जानते हैं।

आज, आम दिनों के विपरीत, सिंहेश्वर ने पत्नी से यह नहीं कहा कि "दो हाथ दाब दो, तब मैं बिस्तर छोड़ूँगा।" यही तो पुरुष की निर्लज्जता और स्त्री-पुरुष के बीच असमानता का प्रतीक है। श्रम का मापदंड दोनों के लिए समान होना चाहिए। जो व्यक्ति आठ-दस घंटे आराम करता है, यदि वह उतनी ही अवधि के श्रम की थकान नहीं उतारता, तो उसका शरीर संतुलित ढंग से काम कैसे कर सकेगा?

मिथिला ऋषि-मुनियों की जन्मभूमि रही है, जिसकी मिट्टी में साधना और सृजन की शक्ति समाहित है। कहा गया है कि मन में प्रतिदिन साठ हज़ार बार विचारों की उथल-पुथल होती है। फिर भी हमारे यहाँ ऐसे ऋषि हुए जिन्होंने अविवाहित रहकर भी समाज को परिवार जैसी संरचना दी। क्या उनकी साधना को झुठलाया जा सकता है? मिथिला के इतिहास में ऐसे भी समय आए जब बारह वर्षों तक सूखा पड़ा, फिर भी इसी धरती ने सीता जैसी जग-जननी को जन्म दिया। क्या उस ऊर्जा और शक्ति को नकारा जा

सकता है?

मिथिला ने ऐसे भी वर्ष देखे हैं जब पूरे समय सिर्फ सूखा रहा। जो भूमि सूर्य की तपन झेल सकती है, उसमें अग्नि सहने की क्षमता क्यों नहीं होगी? निःसंदेह होगी। उदाहरण के तौर पर, सन् 1971 में फागुन से शुरू हुई वर्षा अगहन को पार करते हुए पूस और माघ की ठंड तक जारी रही।

ओछाइन पर नींद खुलते ही सिंहेश्वर फुर्ती से उठना चाहते थे। तभी मन में खयाल आया कि आज सबसे पहले देवकांत बाबू से मिलकर स्कूल की सारी बातें समझनी हैं और राजदेव की किताबों की व्यवस्था भी करनी है। चूंकि वे दिनभर घर पर नहीं रहेंगे, तो क्यों न पत्नी को पहले ही बता दें। नींद में ही सिंहेश्वर पुकार उठे-

"राजदेव की माँ, ज़रा इधर आओ।"

भुलिया यह देखकर चौंकी कि आज वे कुछ अलग ही ढंग से बोल रहे हैं। बाकी दिनों की तरह आज उन्होंने चुपचाप क्यों नहीं उठाया? आज शोर क्यों मचाया? उसे लगा, जरूर कोई नई बात है। घर का काम छोड़कर वह पति के पास आकर बोली-

"क्या कह रहे हैं?"

सिंहेश्वर अपने मन में बने अनगढ़ कार्यक्रम की सूची को समय के अनुसार व्यवस्थित करने में थोड़ी देर तक उलझे रहे। इस उलझन का कारण यह था कि जैसे भावुक लोग अक्सर अपने भावों के प्रवाह में बह जाते हैं, वैसे ही सिंहेश्वर को देवकांत बाबू जैसे निर्मल व्यक्ति से मिलने से पहले अपने समय और संयम के बंधन टूट जाने का डर सताने लगा था।

इतने में पत्नी ने फिर दोहराया-

"क्या कह रहे हैं?"

मन को काबू में कर सिंहेश्वर बोले-

"बच्चा बिगड़ न जाए, इसलिए सबसे पहले उसे पढ़ाई के रास्ते पर लगाना ज़रूरी है।"

कुछ पल रुककर उन्होंने धीरे से कहा-

"गरीब की चाह और फूस के घर की दीवार, दोनों की हालत एक जैसी होती है। जैसे धार के किनारे की खेती और अमीरों के घर के पास का निवास, दोनों ही अस्थिर होते हैं।"

पति की यह बात सुनकर भुलिया जैसे किसी कहानी का मोड़ समझ गई। मुस्कराकर बोली-

"बेटा क्या केवल आपका है या मेरा भी? अगर वह बड़ा होकर बौक बन जाएगा तो लोग मुझे ही 'बौका की माँ' कहेंगे न।"

भुलिया की बात सुनकर सिंहेश्वर के मन में आया कि लोग उन्हें क्या 'बौका का बाप' नहीं कहेंगे? यह भी तो कहेगा। लेकिन तुरंत ही उन्होंने अपने मन को समझाया कि अगर ऐसे छोटे-मोटे विचारों में उलझे रहेंगे तो इच्छाओं की मछली की तरह घास-पात में फँसे रह जाएँगे। फिर समुद्र की गहराई कभी देख भी पाएँगे?

पत्नी को सामने खड़ा देखकर सिंहेश्वर बोल तो पड़े, लेकिन उनका मन कहीं और भटकने लगा। जैसे साधारण लोगों की दृष्टि हमेशा दूसरों की ओर होती है, खुद पर नहीं। कहा भी गया है कि यह देखा-देखी की दुनिया है। इस पर अनगिनत कथाएँ और उदाहरण दिए गए हैं और आगे भी दिए जाते रहेंगे।

विचारों की इस दौड़ में अचानक सिंहेश्वर का ध्यान अपने परिवार पर टिक गया। ठहरते ही उन्होंने सोचा-

"हम भी तो अकेले पिता के बेटे रहे। कहाँ हमें पढ़ाया-लिखाया गया?" समस्या तक तो उनका मन पहुँच गया, लेकिन आगे का रास्ता उन्हें समझ नहीं आया। पत्नी के प्रश्न का उत्तर देते हुए बोले-

"बेटे-बेटियाँ क्या किसी और के भरोसे जन्म लेते हैं या अपने ही बाहुबल के बल पर?"

सिंहेश्वर के उत्साहपूर्ण विचार सुनते ही भुलिया जैसे किसी पक चुके आम के पेड़ पर खड़ी हो गई, जहाँ कोई दोनों पैरों से झटका दे तो कच्चे-

पके आम एक साथ झर पड़ते हैं। उसी तरह उसने सारी आशा छोड़ते हुए कहा-

"जब विधाता ने शरीर में मनुष्य जैसे रत्न को जन्म देने की शक्ति दी है, तो जो लोग दो बच्चों के बाद ऑपरेशन करवा लेते हैं, क्या वह सही है?"

बोलते-बोलते भुलिया अपनी बात तो कह गई, लेकिन यह नहीं समझ पाई कि जब खुद पेट भरने का न कोई साधन है, न उसकी तलाश की कोई दिशा, तब अगर अपनी सीमा से बाहर कदम बढ़ाएगी, तो वही घर का पेट अपने ही अंडे-बच्चों को निगल जाएगा।

इतने में पत्नी की कही बात सुनकर सिंहेश्वर के शरीर में झुरझुरी सी दौड़ गई। मन में तीखा विचार आया कि पत्नी से कहें-

"विधाता को दोष देने लगी हो और तुम भी अपने पैरों की धरती छोड़कर आसमान में खड़ी होकर बोलने लगी हो। यह तो बताओ कि जहाँ जीवन का कोई ठिकाना नहीं, न जाने कब है, कब नहीं, वहाँ अगर दर्जन भर बेटे-बेटियों का बोझ तुम पर छोड़कर मैं मर गया, तो मेरे मरने के बाद तुम मुझे कितनी-कितनी गालियाँ दोगी, यह अभी से कह दो।"

लेकिन तुरंत ही सिंहेश्वर ने अपने मन को रोक लिया, यह सोचकर कि सीधी टकराहट से कुछ हासिल नहीं होता। इतने में राजदेव भी आ पहुँचा। बेटे को देखते ही सिंहेश्वर का मन ठहर गया। उन्होंने सोचा-

"जिस काम के लिए कदम बढ़ाया था, क्यों न उसी से यह सब बात भी साफ-साफ कह दी जाए। बच्चा है, लेकिन उसके जीवन की जो छोटी-सी सीमा है, अगर उसी में ईमानदारी से समझा दूँ, तो उसके मन में भी यह बैठ जाएगा कि काम किस तरह जुड़ा हुआ है।"

पढ़ाई का सवाल यही है कि किसे कैसी शिक्षा मिले। छठियार की रात को समाज की औरतें बेटे को आशीर्वाद देती हैं कि वह डॉक्टर बने, इंजीनियर बने। लेकिन आज के माहौल में, जब डॉक्टर बनने की शिक्षा पचास लाख रुपये में सिमट गई है, तो क्या दाई-माई का आशीर्वाद भर से वह पूरी हो सकती है?

सिंहेश्वर बोले-

"बेटा, तुम्हारी किताब की रसीद जेब में ही है। कल देवकांत बाबू के यहाँ गया था। बातों-बातों में ऐसी चर्चा छिड़ गई कि देर हो गई और अपना काम पीछे रह गया। लेकिन आज, चाय पीकर निकलते ही सबसे पहले तुम्हारा काम करूँगा।"

राजदेव का मन पहले से ही पढ़ाई के गिरते स्तर और बिखरते माहौल को देखकर बेचैन था। ऊपर से अपने जीवन की नींव डगमगाती देख वह और भी विचलित हो गया। लेकिन बालमन इससे अधिक सोच ही क्या सकता था। वह बोला-

"पापा, किताब के कारण पढ़ता नहीं हूँ। जितना समझ पाया हूँ, उतना ही पढ़ता हूँ।"

बेटे की बात सुनकर सिंहेश्वर का मन डोल गया। उन्होंने पत्नी और बेटे दोनों को पास बिठाते हुए कहा-

"बेटा, जब बाबू की मरने की घड़ी आए, तब पास बैठना ताकि जो कहने लायक हो, पहले ही कह दूँ। एक भूत ऐसा होता है जो सिर मरोड़कर खा जाता है, और एक भूत ऐसा भी होता है जो सिर सीधा करके जीवन दे देता है।"

अब तक भुलिया ने केवल चुड़ैल और जिन्न की कहानियाँ ही सुनी थीं, लेकिन भूत की यह बात उसने कभी नहीं सुनी थी कि कोई भूत सिर मरोड़कर खा भी सकता है और सिर सीधा करके जीवन भी दे सकता है। हाँ, भुतहा बाग़ या गाछी की चर्चा ज़रूर सुनी थी। वह बोली-

"भूत तो पवन का रूप होता है। वह दोनों काम कैसे कर सकता है, यानी सिर मरोड़े भी और सीधा भी करे?"

पत्नी का यह प्रश्न सुनकर सिंहेश्वर मन ही मन सोचने लगे कि ऐसा क्या उत्तर दें जिससे वह ठीक वैसे ही समझ जाए जैसी उनकी इच्छा है, और बात से पूरी तरह संतुष्ट भी हो जाए। पर तुरंत ही उनके मन में यह शंका उठी कि क्या समाज का यह कहना गलत है कि 'मरद वही जो औरत को

समझा सके'? हमारे जैसे गाँव के आदमी को कौन समझे कि सैकड़ों गाँव के आदमी अगर एक साथ कंधा लगाएँ, तब भी औरत की मनोदशा को समझ पाना मुश्किल है।

थोड़ी देर के मौन के बाद सिंहेश्वर ने सोचा कि दुनिया से उन्हें क्या लेना। जैसे हनुमानजी जीवनदायिनी बूटी लाने के लिए पूरा पर्वत उठाकर कैलाश से लंका तक ले गए थे, वैसे ही क्यों न वे भी अपने भीतर के बोझ को अपनी पत्नी के सामने खोल दें। पत्नी केवल घर की संगिनी नहीं है, वह जीवन-सहचरी भी है। फिर जब बेटा, जो अब तेरह-चौदह साल का हो चुका है, पास ही बैठा है, तो बात खुलकर कही जा सकती है।

मन कुछ हल्का हुआ तो सिंहेश्वर के मुँह से विचार सहज रूप में निकल पड़ा-

"बेटा, हमारे दोनों पिता-पुत्र का वंश तो एक ही है। माँ का वंश भले अलग क्यों न हो, पर वह भी बाहर से आकर इस वंश-वृद्धि में सहभागी हुई है। अब तक जो हमारे पूर्वजों का जीवन रहा है, उसे पहले ही बता देता हूँ।"

पति की बात सुनकर भुलिया के मन में चिपचिपाहट-सी छा गई। यह चिपचिपाहट दो तरह की होती है। एक बीते जीवन को सुधारने की चाह से, और दूसरी उसकी कमी को देखकर उलाहना देने से। भुलिया के मन में कौन-सी चिपचिपाहट थी, यह तो वही जान सकती थी, कोई और कैसे समझे?

परिवार के बीच अपनी उपस्थिति जताते हुए पति की ओर कटाक्ष भरी दृष्टि डालती भुलिया बोली-

"किसी ने मुँह की बात छीन ली क्या, जो भंगेरी-गजेरी की तरह घुटे जा रहे हो? और यह भोर की रस्म की तरह हर रोज़ वही घुटम-घुटाई क्यों करते रहते हो, जैसे भोर होते ही उठकर बस वहीं जा बैठो?"

बीच में बैठे राजदेव के मन में यह सवाल उमड़ रहा था कि माँ बाबू से क्या कह रही हैं और बाबू माँ से क्या कह रहे हैं। उसका मन किसी एकांत साधक की तरह किसी और ही दिशा में टँगा था। वह सोच रहा था कि पढ़ाई

छूटती जा रही है, इसे कैसे पूरा किया जाए। समाज का माहौल कुछ ऐसा बन गया है कि समझदार और चेतन लोगों की बात छोड़िए, बच्चों के साथी-सहपाठी तक अब वीरान से लगने लगे हैं। मन में ऐसा ज़हर बोया जा रहा है कि सब बीमार से हो चले हैं।

राजदेव के भीतर यह विचार भी उठता कि कोई किसी के भरोसे थोड़े जन्म लेता है कि उसी भरोसे जिएगा। पर अगले ही क्षण यह भी सोचता कि अपने बल पर भरोसा तभी किया जा सकता है जब जीने की समझ और व्यवहार दोनों साथ-साथ चलें।

इतने में अपने विचारों को स्थिर करते हुए सिंहेश्वर बोले-

"बेटा, पहले अपने खानदान की बात बता दूँ, फिर हम तीनों मिलकर सोचेंगे कि आगे कैसे चलना है।"

बालमन वाले राजदेव ने कहा-

"पापा, पहले बाबा से शुरू होकर अब तक का परिवार जोड़ लीजिए, फिर आगे की बात सोचेंगे।"

बेटे की बात सिंहेश्वर को सही लगी। उन्होंने सोचा, लोहे की मशीन तो रातों-रात दस गुना ताकत पा सकती है, लेकिन मनुष्य तो मशीन नहीं है। वह अपने परिवार, देश और दुनिया से जुड़ा होता है। भला वह मोबाइल या कंप्यूटर की तरह रातों-रात दस गुना कैसे बढ़ सकता है?

सिंहेश्वर ने कहा-

"बेटा, जितना अपनी आँखों के आगे देखा-सुना है, उतना तो मैं खुद बता सकता हूँ। लेकिन जो बातें बाबू ने वंश के बारे में कही थीं, उन्हें परिवार के सबको बताना ही उचित होगा।"

पति की बात सुनते ही भुलिया को अपनी सास की याद आ गई। उन्होंने जिस तरह उसे बेटी समझकर सेवा और स्नेह दिया था, उसमें पाँच वर्ष कैसे बीत गए, इसका एहसास ही नहीं हुआ। कभी सोचा भी नहीं था कि अचानक ऐसे दिन में उस स्मृति की भी आवृत्ति होगी। विह्वल होकर भुलिया बोली- "दो जीवनसाथियों के बीच तीसरा प्राण बेटा ही होता है।

अभी वह हमारी सेवा करता है, लेकिन जब हम दोनों की साँसें थमने लगेंगी, तब यही बेटा अपने संकल्पों को आगे बढ़ाकर हमें जीवनदान देगा।"

पत्नी की गंभीर बात सुनकर राजदेव चौंक उठा, लेकिन सिंहेश्वर के चेहरे पर कोई बदलाव नहीं आया। जैसे जाड़े की ठंड किसी निर्जीव वस्तु को छूकर भी असर नहीं करती, वैसे ही वे स्थिर बने रहे। समय ऐसा आ गया था कि हर कोई अपने जीवन और मृत्यु के घाट पर खड़ा था। मन को संयमित करते हुए सिंहेश्वर ने धीमे स्वर में कहा-

"बेटा, तूने बाबा की बात की थी, मैं उससे आगे, परबाबा से शुरू करता हूँ।"

राजदेव को बाबा तक की बात तो समझ में आई, लेकिन 'परबाबा' की गहराई वह नहीं समझ पाया। फिल्मों के कलाकारों या खेल के खिलाड़ियों की सात पीढ़ियाँ तो उसे याद थीं, लेकिन अपने ही परबाबा के बारे में कुछ मालूम नहीं था। अब तक वह सिर्फ बाबा तक ही जानता था। उत्सुकता से पिता की ओर मुख उठाकर बोला-

"कहिए न।"

पूर्वजों का जीवन महाभारत और पुराणों की उन कथाओं की तरह होता है, जिनका उपयोग लोग युगों से कथा और संवाद के रूप में करते आए हैं। कभी एकलव्य की तरह एकांत साधक के रूप में, कभी श्रवणकुमार की तरह पुत्र रूप में, कभी लक्ष्मण की तरह भाई रूप में, तो कभी विभीषण और रावण की तरह विचार के रूप में। फिर भरथरी और उनकी पत्नी पिंगला का भी तो लोग उल्लेख करते ही हैं।

भाई और पिता-पुत्र के रिश्ते पर विचार करते हुए सिंहेश्वर बोले-

"बेटा, तुम्हारे परबाबा हुए, और उनके बेटे यानी मेरे बाबा का नाम था फुलचन। वे अपने गाँव से निकलकर ननिहाल वाले गाँव में जाकर बस गए।"

अपने गाँव और ननिहाल का नाम सुनते ही राजदेव के कान सतर्क हो गए। मन में जिज्ञासा भड़क उठी। उसने पूछा- "ननिहाल के गाँव में जाकर

क्यों बस गए? अपने बाबा का गाँव क्या हुआ?"

बाबा गाँव और ननिहाल गाँव का ज़िक्र आते ही सिंहेश्वर ने सोचा कि राजदेव अभी बाल-बोध की अवस्था में है। इसलिए नाराज़ होकर या झुँझलाकर कुछ कहना ठीक नहीं होगा। उन्होंने शांत स्वर में कहा-

"बेटा, तुलसी बाबा ने रावण के मित्र का उल्लेख किया है, जिसमें कहा गया है कि रावण के एक लाख बेटे और सवा लाख नाती थे, और उन्होंने नाती को भी पोता ही माना। नहीं तो रावण की बेटियों की चर्चा भी होती कि कितनी थीं और उनसे कितने नाती हुए। फिलहाल बस इतना समझो कि पिता की जन्मभूमि बाबा गाँव है और माँ की जन्मभूमि नाना गाँव।"

बलुई खेत में जैसे आड़ चलाते-चलाते उसकी मिट्टी सम हो जाती है और खेत का आकार एकरूप बन जाता है, वैसे ही राजदेव का मन भी सम हो गया, जिसे सिंहेश्वर ने महसूस किया। वे आगे बोले-

"अब तक तो हम दोनों बाप-बेटे जीवित रूप में बातें कर रहे थे, अब वह बात सुनो जो मेरे बाबा ने अपने मुँह से कही थी।"

जैसे लोग परोक्ष बातों को उतना ही सत्य मानते हैं जितना वे स्वयं उसे स्वीकार करते हैं, वैसे ही मौखिक बातों को भी कभी-कभी उतना ही भरोसेमंद समझ लिया जाता है। यों लिखित बातों का भी महत्व है, पर उसमें कमी-बेशी बनी रहती है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि लिखी हुई हर बात सोलह आने सच होती है। वैसे भी, बीता हुआ सत्य भी वर्तमान में झूठ बन सकता है, और उसके झूठ में बदलने के अपने-अपने कारण होते हैं।

फिर भी, सांप्रदायिक तनाव की हवा ने लोगों के जीवन को और अधिक उलझा दिया है। अपने परिवार की सोच पर लौटते हुए सिंहेश्वर ने कहा-

"बुद्धदेव ने कहा था कि हमारा जीवन कृषि-आधारित है, जिसमें बैलों का योगदान सबसे अधिक है, क्योंकि हम उनसे खेत जोतने का काम लेते

हैं। खेती के लिए बैल अत्यंत आवश्यक हैं, और यह काम एक बार या एक साल का नहीं, बल्कि निरंतर चलने वाला है। बैलों की उत्पत्ति गाय से होती है, और हमारे समाज में कभी गाय का मांस खाने की प्रथा भी रही है। उस समय का समाज कृषि-आधारित था और पशुपालन उसी का अभिन्न हिस्सा। किसान खेती के साथ-साथ पशुपालन भी करते थे।"

गाय वह पशु है जिससे बछड़े जन्म लेते हैं, और उन्हीं बछड़ों से कृषि कार्य संभव होता है। इसलिए गाय को मारकर खाना अपने ही पैरों में कुल्हाड़ी मारने जैसा है। पर आज हम क्या देख रहे हैं? देखा ही तो है कि सांप्रदायिक ताकतों ने समाज को एक जहरीली हवा से घेर रखा है, जिसके कारण गाय या सूअर के नाम पर साल-दर-साल कितने ही साम्प्रदायिक विवाद उठते रहते हैं और जन-बल के साथ-साथ देश को भी नुकसान पहुँचता है।

सबसे आश्चर्यजनक यह है कि दिन-रात मोबाइल और कंप्यूटर में लगे रहने वाले लोग अब ऐसी दिनचर्या अपना चुके हैं कि शारीरिक श्रम से कोसों दूर हो चले हैं। भले ही खाने-पीने से सिंहेश्वर को कोई विशेष लेना-देना न हो, लेकिन वे इस बात से चिंतित हैं कि अब जो एक तरह का दुष्काल जैसा माहौल बन गया है, जिसमें हमारे जैसे लोग खपड़ की भुज्जा की तरह जलने लगे हैं, उसका बचाव आखिर कैसे होगा?

सिंहेश्वर का मन फिर अपने परिवार की ओर लौट आया। सोचते हुए बोले-

"बेटा, तूँ भी हाई स्कूल में पढ़ता है, इसलिए इतिहास-पुराण की कहानियाँ पढ़ ही रहा होगा। हमारे पिताजी की जो ज़मीन थी, उसे गाँव के कुछ दबंग लोगों ने छीन लिया था। इसलिए हम अपना गाँव छोड़कर ननिहाल वाले गाँव में आकर बस गए।"

जिस बात का संदेह सिंहेश्वर के मन में पहले से था, वही बात राजदेव ने पूछ ही ली। उसने कहा-

"गाँव के लोगों ने घर-बार क्यों छीन लिया?"

बेटे का प्रश्न सुनते ही सिंहेश्वर के भीतर एक गुरु जैसी शक्ति जाग उठी, जो पिता की तरह ईमान भी रखती है। लेकिन अब ऐसा समय आ गया है कि गुरु और शिष्य साथ बैठकर खाना-पीना भी छोड़ चुके हैं। अपने दोषों को छिपाते हुए सिंहेश्वर बोले-

“बेटा, जो बात बाबू ने जैसे-वैसी कही थी, वह आज भी मेरे मन में वैसे ही झलकती है। इसलिए वही कह रहा हूँ।”

इतने में भुलिया बोली-

“जिस मुर्गी को दूध नहीं मिलता, उसका लगाव ही अधिक होता है। जो कहना है, तुरन्त कहो, मैं भी सुन लूँगी। अब यह परिवार और वंश भी तो हमारा ही परिवार और वंश है।”

सिंहेश्वर ने पत्नी की बात को किसी और अर्थ में नहीं लिया। यही तो मनुष्य की जिज्ञासा है, कितनी जल्दी कोई विचार समझ लेना चाहता है, और कितनी जल्दी उसे क्रिया में बदलकर अपने जीवन की दिशा तय कर देना चाहता है। जैसे-जैसे जीवन की क्रिया बदलती है, वैसे-वैसे जीवन स्वयं बदल जाता है। क्रिया चाहे शुभ हो या अशुभ, उसका परिणाम तो होता ही है।

अचानक सिंहेश्वर के मन में पिता की कही बात ऐसी उमड़ी कि वे भीतर तक हिल गए। बोले-

“बेटा, भले ही अभी हम सब परिवार में हैं, पर परिवार कैसे बनता है और कैसे बिखरता है, यह बात बाबा ने खुद अपने मुँह से कही थी।”

सिंहेश्वर बोल ही रहे थे कि भुलिया टोके बिना न रह सकी। बोली-

“इतनी तैयारी करने लगे जैसे कोई अनाड़ी नटुआ, जो सज-धज में ही इतना समय लगा दे कि नाच शुरू होते ही बेहोश हो जाए।”

पत्नी की यह बात सुनकर सिंहेश्वर ने उसकी उत्सुकता को अपनी ही उत्सुकता समझा और शांत स्वर में बोले-

“अच्छा, सुनो। बाबा ने जो कहा था, वह उसी रूप में तुम्हारे सामने

रखता हूँ। बोले थे कि हम तो सीधे-सादे आदमी हैं, लेकिन अपने गाँव के चन्दा झा, जिन्होंने मैथिली रामायण लिखी, उन्होंने कैसे अपने पिता का घर छोड़कर ननिहाल के गाँव में बसने का निर्णय लिया, यह आरंभ से अंत तक सुनो।

उस समय अंग्रेज़ों का शासन था। कानून-कायदा इतना कठोर था कि लोगों के लिए शांति से साँस लेना भी मुश्किल हो गया था। लेकिन वह तो ऊपर की बात थी। भीतर की सच्चाई यह थी कि समाज के वर्चस्ववादी विचारों की सत्ता इतनी प्रबल थी कि एक गाँव छोड़कर दूसरे गाँव जाकर बस जाना कोई असामान्य बात नहीं मानी जाती थी।"

पिता की बात सुनकर राजदेव का मन सोचों से भर गया। उसने अकचकाकर पूछा-

"पापा, वहाँ जाकर परबाबा का जीवन कैसा रहा?"

सिंहेश्वर बोले-

"बेटा, सब कुछ अपनी आँखों से तो नहीं देखा, क्योंकि जबसे समझ बनी, तबसे बाबू को रिक्शा चलाते देखा और बाबा बूढ़े हो चुके थे। लेकिन उन्होंने अपने जीवन की कहानी विस्तार से ज़रूर सुनाई थी।"

राजदेव बोला-

"और क्या-क्या कहा था उन्होंने?"

सिंहेश्वर ने बताया-

"उन्होंने कहा था कि अपने गाँव में, यानी पिता के गाँव में, जो रिश्तेदारी, समाज और व्यवहार था, उसके मुकाबले नाना गाँव का माहौल कहीं बेहतर था। इसलिए वहाँ बसने में ज़रा भी दुःख या पछतावा नहीं हुआ कि पिता का गाँव छोड़कर आ गए। हाँ, समाज के कुछ लोग हमेशा ऐसी बातें कहते हैं कि गाँव के बुरे आदमी को ही गाँव से भगाया जाता है। पर उस सबसे हमें क्या लेना? हमारा मतलब बस इतना है कि अपने पूर्वजों के जीवन का इतिहास समझा जाए।"

इतना कहकर सिंहेश्वर कुछ देर के लिए चुप हो गए।

इतिहास की यह बात सुनकर राजदेव का मन चौंक उठा, लेकिन समय ऐसा आ गया था कि अब किसी के पास इतना अवकाश कहाँ है कि वह अपने ही इतिहास को समझ सके।

थोड़ी देर बाद सिंहेश्वर फिर बोले-

"जब बाबू की उम्र चालीस के पार हुई और मैं भी सोलह-सत्रह साल का हो गया, तब परिवार का बोझ सँभालना उनके लिए कठिन हो गया। उन्होंने कहा- 'बेटा, जीवन में पेट के आगे कुछ कर नहीं सका। तुम्हें एक अक्षर तक नहीं पढ़ा पाया। लेकिन जो कुछ भी कमाया, वह सब—रिक्शा चलाकर—संभालकर रखा है। लगभग पाँच सौ रुपये से ज़्यादा होंगे। यही पूँजी तुम्हें दे रहा हूँ, इसे टेम्पू के लिए लगाना।'"

जैसे किसी ज़रूरी काम के बीत जाने के बाद भूख या प्यास का एहसास होता है, वैसे ही कोई विचार भी देर से सुनने के बाद भीतर उमड़ने लगता है। राजदेव को भी कुछ वैसा ही महसूस हुआ। उसने पूछा-

"क्या उसी पैसे से टेम्पू खरीदा था?"

सिंहेश्वर ने कहा-

"खरीदा कहाँ, बैंक में जमा रखे पैसे पर लोन लेकर लिया। तुमने देखा ही है कि कैसे बैंक का कर्ज़ चुकाना है, परिवार का पेट पालना है और तुम्हारी पढ़ाई भी जारी रखनी है, यही सब सोचते रहते हैं।"

सुबह की ठंडी बेला के बाद जैसे वातावरण में शांति छा जाती है, वैसे ही सिंहेश्वर के मौन चेहरे को देखकर माँ और बेटा, दोनों चुप हो गए। बस टुकुर-टुकुर पिता का चेहरा देखते रह गए। ❑

7

☰

देवकांत बाबू अकेले दरवाज़े पर बैठे अपनी ज़िंदगी को टटोल रहे थे। सोच रहे थे कि अब पाँच दिन हो गए, कोरोना के कारण विद्यालय बंद पड़ा है। शुरू में तो यह चर्चा थी कि स्कूल केवल तीन दिन बंद रहेगा, पर चौथे दिन ही अनिश्चितकालीन बंदी की सूचना मिल गई। तभी उनकी पत्नी दमयंती चाय लेकर पहुँचीं।

कुर्सी पर बैठे पति का चिंतनशील चेहरा देखकर दमयंती के मन में एक शंका उठी। यह शंका इसलिए भी हुई कि जिस तरह की गहरी सोच में वे कभी-कभी डूबते थे, वैसा भाव आज नहीं था। चिंतन के भी दो रूप होते हैं। एक वह, जब मन भय और बोझ से मुक्त होकर किसी समस्या पर विचार करता है। और दूसरा वह, जब भय और बोझ के नीचे दबा मन सोचने को विवश होता है। दमयंती को आज दूसरे रूप का आभास हुआ, इसलिए मन में बेचैनी उठी, पर वे चुप रहीं। उनके हाव-भाव से भी बात समझने की कोशिश होती रही।

फिर अपने मन को समझाते हुए दमयंती ने सोचा कि जो काम रोज करती हूँ, वही आज भी कर लूँ। पति की पलकों को झपकते देख वह बोलीं-

“चाय पी लीजिए।”

“चाय पी लीजिए” सुनते ही देवकांत बाबू ने धीरे से आँखें उठाकर पत्नी के चेहरे की ओर देखा। वही चेहरा, वही सादगी, फिर भी आज कुछ अलग-सा लगा। कहा भी गया है-

“जैसी आँख, वैसी दुनिया।” दमयंती के रूप में कोई बदलाव नहीं

था, बस मन की दृष्टि ने उसे नया अर्थ दे दिया।

उन्हें याद आया कि विद्यालय में तो हर साल सैकड़ों छुट्टियाँ होती ही हैं। कभी रविवारों की, कभी दुर्गापूजा या गर्मी की लंबी छुट्टियाँ। फिर इन छुट्टियों के बीच जो रविवार आते हैं, वे भी उसी में समा जाते हैं। इसलिए दमयंती के मन में घर या परिवार को लेकर कोई अलग चिंता नहीं उठी। जीवन वैसा ही चल रहा था, बस वक़्त की हवा थोड़ी बदल गई थी।

हाथ बढ़ाकर चाय का कप लेते हुए देवकांत बाबू के मन में यह विचार आया कि जब विद्यालय अनिश्चितकाल के लिए बंद हो गया है, तो वेतन की अनिश्चितता भी साथ आ गई है। जब तक आमदनी नहीं होगी, तब तक परिवार के खर्च पूरे नहीं होंगे और किसी न किसी ज़रूरत पर रोक लगानी ही पड़ेगी। और जब ज़रूरतें रुकेंगी, तब आय के स्रोत और जीवन की गति दोनों धीमी पड़ जाएँगे। जीवन की गति जब टूटती है, तब परिवार में तरह-तरह की समस्याएँ उभरना स्वाभाविक है।

लेकिन मन में उठती इन चिंताओं की लहर को देवकांत बाबू ने यह सोचकर रोक दिया कि जब विद्यालय में काम करते हैं, तभी तो हर महीने वेतन की उम्मीद करते हैं। महीने के अंत में वेतन लेकर वे पत्नी के हाथों में दे देते हैं ताकि पूरे महीने का खर्च वह अपने ढंग से संभाल सके। अब जब विद्यालय बंद होने की यह परिस्थिति सामने है, तो पत्नी को क्यों अनावश्यक चिंता में डाला जाए?

फिर भी मन ने तर्क दिया कि जब महीने भर का खर्च पत्नी के हाथ में नहीं जाएगा, तो वह घर कैसे चलाएगी। मन को दबाते हुए देवकांत बाबू धीरे से बोले-

"विद्यालय अनिश्चित समय के लिए बंद हो गया है।"

देवकांत बाबू की यह बात जिस गंभीरता से निकली थी, दमयंती ने उसे कुछ और ही अर्थ में लिया। बोली-

"विद्यालय बंद हो गया तो क्या हुआ? बात तो साफ है कि बैठने के बावजूद वेतन तो मिलेगा ही। फिर चिंता की क्या बात है?"

पत्नी की बात सुनकर देवकांत बाबू चुप रह गए। मन ही मन सोचने लगे कि अनावश्यक बातें करने से बेहतर है मौन रहना। जब खाली जेब का भार महसूस होगा, तभी वास्तविकता समझ में आएगी। मन में जैसे कोई व्यंग्यपूर्ण पंक्ति तैर गई-

"गीता सवेद सभी विसरी, जब हाथ पड़े हाथ लगना।"

मुँह बंद होते ही विचारों की एक और लहर उठी। मन ने टोका कि यह तो गलती हो रही है। एक ओर विद्यालय अनिश्चितकाल तक बंद है और दूसरी ओर मैं परिवार की ज़मीनी सच्चाई से मुँह चुराकर 'जाबत बरतन, ताबत बरतन' का जाप करता रहूँ। जब खुद खाने के समय चौकी पर बैठते हैं और चाय पीने के समय कुर्सी खींचते हैं, तो खाली हाथ वह क्या करेगी। वही तो करेगी न कि चूल्हे की आग सुलगाने वाली लकड़ी को मुँह पर इस तरह रखेगी कि कोयले की कालिख चेहरों पर निशान छोड़ जाए।

अचानक देवकांत बाबू का मन काँप गया। सोचा-

"जब सब मिलकर परिवार बने हैं, तो सब मिलकर चलेंगे भी। जीवन में अच्छा-बुरा दोनों समय आते हैं। क्यों न अच्छा और बुरा, दोनों ही परिवार के सामने रख दूँ?"

यह निश्चय करते ही उन्होंने थोड़ी झिझक के साथ पत्नी से पूछा-

"एक बात पूछूँ?"

जैसे किसी बच्चे से पूछा जाए- "बेटा, बताओ आज क्या खाया?", और वह तुरंत जवाब दे दे, वैसे ही दमयंती भी पति की बात सुनते ही भाव-विह्वल हो गई। जिस तरह महाभारत की नल की संगिनी दमयंती ने हर सुख-दुख में साथ निभाया था, वैसे ही यह दमयंती भी जीवन की संगिनी बनकर जीना चाह रही थी। बोली-

"अब तक तो मैं यह समझ ही नहीं पाई थी कि आप इतने चोर हैं।"

पत्नी के मुँह से 'चोर' शब्द सुनते ही देवकांत बाबू का चेहरा पीले पड़ चुके आम के पत्ते की तरह झुक गया। बोले- "चोर क्या केवल मैं ही हूँ, या तुम भी हो? जिस तरह तुम छिपाकर रखती हो, उसी तरह मैं भी। चलो,

आधा-आधा समझौता हो गया। अब जो पूछना था, वह कहता हूँ।”

प्रेम में डूबे किसी प्रेमी की तरह दमयंती भी भाव से भर उठी। मन बेकाबू हो गया। बोली-

“हम परिवार हैं, कोई तमाशा नहीं। इसलिए जो भी बात मन में हो, उसे भीतर रखकर उलझते रहना ठीक नहीं।”

पत्नी की समझदारी से भरी बात सुनकर देवकांत बाबू बोले-

“सुनती हो, अब तक अपने मन की बात तुमसे छिपा रखी थी। पर अब हालात ऐसे बन गए हैं कि सुख-दुख में साथ दिए बिना जीना मुश्किल है।”

देवकांत बाबू ने अपनी बात पूरी तरह नहीं खोली, लेकिन दमयंती की भावभूमि ऐसी थी कि बिना पूरी बात सुने ही वह भावुक होकर कह उठी-

“यही जीवन तो सृष्टि की रचना करता है। मुँह दबाकर क्यों रखे हैं, खुलकर कहिए। जहाँ तक साथ चलना होगा, वहाँ तक साथ देंगे।”

पत्नी के इस समर्पण-भरे स्वरूप को देखकर देवकांत बाबू बोले-

“विद्यालय बंद हो गया, इसका मतलब सिर्फ इतना नहीं कि वह फिर खुलेगा ही। इसका मतलब यह भी हो सकता है कि जैसे वह अनिश्चितकाल के लिए बंद हुआ है, वैसे कहीं स्थायी रूप से बंद न हो जाए। तब क्या करेंगे?”

अब तक दमयंती ने जीवन के उस चक्र की ओर कभी ध्यान नहीं दिया था। वह देती भी कैसे? पति बी.ए. पास कर हाई स्कूल में शिक्षक हैं, जबकि दमयंती तो लिखने-पढ़ने के नाम पर एकलव्य की तरह अंगूठाछाप हैं। पर यह कहना गलत होगा कि वह सच्ची मैथिलानी नहीं हैं। उन्हें किसानी जीवन की पूरी समझ है। क्या आज की मैथिलानी महाभारत की नल की संगिनी दमयंती नहीं है? है, और उससे कहीं अधिक है। महाभारत की दमयंती हजारों वर्ष पुरानी थी, जब मनुष्य का जीवन अर्ध-जंगली था, पर आज की मैथिलानी पुरुषों से आगे बढ़कर विमान उड़ाने वाली पायलट,

वैज्ञानिक और शिक्षाविद बन चुकी है। ऐसी शक्तिसंपन्न स्त्रियों को चूल्हे के धुएँ में ढँक देना अब कब तक संभव रहेगा?

प्राचीन काल से मैथिलानी पृथ्वीपुत्र के साथ पृथ्वीपुत्री बनकर रही है। बैसाख-जेठ की धूप, सावन-भादो की बरसात, पूस-माघ की ठिठुरन, सावन में धान रोपनी, भादो की बारिश और जाड़े की फसल की कटाई, इन सबके बीच दिन में बारहमासा और रात में बारह बजे तक अपने अस्त्र-शस्त्र, यानी गृहकार्य के उपकरणों के साथ वह लगातार काम में लगी रहती है। आम के बग़ीचे की रखवाली से लेकर घर के धान-धान्य की चिंता तक सब उसी के कंधों पर होता है।

अपने अस्तित्व की इसी शक्ति और भूमिका को दर्शाते हुए दमयंती बोली-

"अच्छी तरह समझ नहीं पाई। ज़रा साफ़-साफ़ समझा दीजिए।"

हर दिन ऐसा होता आया है और अब भी होता है कि कोई बच्चा किसी काम की चमक-दमक देखकर उसकी ओर दौड़ पड़ता है और उसे खेल समझकर खेलने लगता है, जबकि कोई दूसरा बच्चा जीवन को ही खिलौना बना लेता है और उसी से खेलता रहता है। लेकिन जो कुछ भी है, जहाँ है, उससे देवकांत बाबू और दमयंती को कोई लेना-देना नहीं। उनका मतलब सिर्फ अपने परिवार के जीवन से है।

अपनी बात स्पष्ट करते हुए देवकांत बाबू बोले-

"विद्यालय खुला रहेगा या बंद, यह निश्चित नहीं कह सकता। लेकिन यह बात तय है कि हमारी ज़िंदगी अब अनिश्चित-सी होती जा रही है। इसमें ज़रा भी संदेह नहीं।"

दमयंती पति की बातें सुनते-सुनते विचारों में डूबती जा रही थी, पर भावनाओं के प्रवाह में बहने से पहले ही उसने खुद को सँभाल लिया। मन ने सुझाया कि क्यों न पति से सीधे पूछ लिया जाए कि अब तक की स्थिति क्या रही है और आगे क्या संभावना दिख रही है।

दमयंती ने कहा- "जब तक मनुष्य अपने पैर धरती पर ठीक से नहीं

जमाता, तब तक पाँवों के नीचे की ज़मीन डगमगाती ही रहती है। इसलिए पहले अपने अनुभव से बताइए, फिर मैं अपनी बात कहूँगी। बच्चे तो अभी बाल-बुद्धि हैं, उनके चेहरे की बात तो माँ-बाप ही पढ़ते हैं।”

अपने ढलते जीवन को देखकर देवकांत बाबू बोले-

“अब तक मन में यह शांति थी कि जीवन चैन से बीत जाएगा। परिवार के हिसाब से सोचा था कि बच्चे बड़े होकर गाड़ी खींच लेंगे। लेकिन अब जो विषम परिस्थिति बन गई है, उसमें बीस साल से विद्यालय और महाविद्यालय शिक्षकविहीन होते जा रहे हैं। बच्चे सड़कों पर चक्कर काट रहे हैं और दूसरी ओर ढोल पीटा जा रहा है कि पढ़ाई-लिखाई में विद्यार्थियों के नतीजे बेहतर आ रहे हैं।”

बोलते-बोलते देवकांत बाबू को लगा कि शायद वे कुछ ज़्यादा कह गए हैं। मन ही मन सोचा-

“क्यों किसी उड़ते कौवे के पीछे भागूँ कि वह मेरा कान ले गया? पहले अपना कान ही देख लूँ कि है भी या नहीं।”

इतने में दमयंती मुस्कराकर व्यंग्य से बोली-

“जैसे टेढ़ा मुनसुवा दूसरों की टेढ़ी चाल देखता है और अपनी नहीं, वैसे ही आप भी क्या...?”

दमयंती अपने इशारों में पति से बहुत कुछ कहना चाह रही थी, लेकिन सीधे कहने में उसे मर्यादा टूटती सी लगी, इसलिए वह चुप रह गई। अपनी सीमा क्या है, यह तो दमयंती ही जानती थी। और कोई क्या समझे। पक्षी ही पक्षी की भाषा समझता है, देवकांत बाबू समझ गए।

लेकिन जैसे पोखर या धार के पानी में डुबकी लगाते बच्चे ‘हरदा’ पुकारते हैं, वैसे ही उन्होंने अपनी अंतरतम की बात खोल दी। बोले-

“जीवन की धारा की बहुत-सी बातें समझता हूँ, फिर भी जीवन उस समझ के विपरीत दिशा में बह रहा है। ऐसी स्थिति में कोई स्थिर दिशा नहीं दिखती कि क्या किया जाए।”

दमयंती पंछी की तरह कान-आँखें खड़ी किए मुँह खोले सुन रही थी, लेकिन आँखों, कानों और मुँह में विचार उस तरह नहीं टिक पा रहे थे कि तुरंत कोई जवाब दे सके। जैसे किसी चूहे की पूँछ छूते ही वह भाग खड़ा होता है, वैसे ही उसके विचार भी लगातार फिसलते जा रहे थे।

थोड़ी देर बाद उसने हल्के अलंकारिक स्वर में कहा-

"इतना तो समझती ही हूँ कि जिस विधाता ने मनुष्य को बनाया, उसी ने पुरुष और नारी को एक-दूसरे का पूरक बनाकर उनकी सृजन-शक्ति को भी एक कर दिया।"

पत्नी के विचार देवकांत बाबू को पूरी तरह समझ आ गए, पर मन में एक संदेह भी उठा। उन्होंने सोचा कि अगर सचमुच इतना गूढ़ ज्ञान उसमें होता, तो क्या वह अब भी उन्हीं के भरोसे खड़ी रहती या अब तक किसी और दिशा में निकल चुकी होती? यह भी संभव है कि किसी और के मुँह से सुनी हुई कोई बात अब उनके सामने समझदारी का बोझ बनकर उतर आई हो।

अचानक देवकांत बाबू के भीतर एक बदलाव-सा आया। मन ने कहा कि क्यों न जीवन को सामने रखकर आगे की राह खुद ही पूछी जाए। जैसे कोई भगलाह बैल अपनी पीठ पर लदी भग्गल से अपनी कमजोरी जताता है, वैसे ही अपने भीतर की थकान प्रकट करते हुए देवकांत बाबू बोले-

"अब तक तो यही समझते आए थे कि नौकरी कर रहे हैं, वेतन मिल रहा है, इसलिए परिवार चलता रहेगा। बाद में जब सेवा-निवृत्त होंगे, तब पेंशन मिलेगी और बेटे लोग कमाने लगेंगे, तो परिवार अपनी गति से चलता रहेगा। लेकिन...।"

पति की बात सुनकर दमयंती चौंक गई। चौंकने का कारण यह था कि वह पति की सारी बातें पूरी तरह नहीं समझ पाई थी, लेकिन इतना जरूर समझ गई कि नौकरी अब डगमगाने लगी है। जब नौकरी अस्थिर होगी तो जीवन भी डोल जाएगा। आगे चलकर सब कुछ उसे ही सँभालना पड़ेगा। मन में एक टीस उठी-

"काश, हम अल्लापुर के होते तो खेती-बारी और मवेशियों से परिवार चला लेते।" पर वे तो पचही परगने की हैं, जहाँ भूमि जोतना पाप माना जाता है और पशुपालन को गंवारों का पेशा समझा जाता है। ऊपर से, स्त्री के लिए तो यह और भी बड़ा पाप माना जाता है, घर की मर्यादा का नाश।

जिस तरह देवकांत बाबू पत्नी की ओर झुककर बोल रहे थे, वैसे ही अब दमयंती भी उनकी ओर झुककर बोली-

"जैसे आप मेरे पिता के घर से मेरा हाथ पकड़कर जीवन की रणभूमि में लाए थे, वैसे ही अब भी मैं आपका ही साथ पकड़े चल रही हूँ। लेकिन आप पति हैं, इसलिए आपके आदेश के बिना कोई काम करना उचित नहीं।"

पत्नी की यह बात सुनकर देवकांत बाबू के मन ने भी मान लिया कि वे खुद अपने समाज में ऐसे ही वृत्ताकार परिवारों को देखते आ रहे हैं, जहाँ सब एक ही चक्र में बँधे होते हैं। बोले-

"अभी विद्यालय बंद हुए पाँच ही दिन हुए हैं, इसलिए फिलहाल कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता। पर दोनों पक्षों पर नजर रखनी होगी। आगे क्या होगा, यह तो आगे ही पता चलेगा।"

पति को विचारों में उलझा देखकर दमयंती बोली-

"अनावश्यक चिंता में शरीर की शक्ति क्यों घटा रहे हैं? अगर आप सच में पुरुष हैं तो अपना साहस जगाइए। एक कोरोना क्या कर लेगा, सैकड़ों कोरोना भी कुछ नहीं बिगाड़ सकते।"

पत्नी की इस सधी हुई दृढ़ता को देखकर देवकांत बाबू मुस्कराए और बोले-

"दुनिया में लोग तो अकेले ही एक छोर से दूसरे छोर तक घूम आते हैं, हम तो दो प्राणी हैं।" ❑

8

☰

आज की कार्यसूची के अनुसार सिंहेश्वर, देवकांत बाबू से भेंट के लिए तैयार होकर जैसे ही आँगन से निकले, उनके मन में अचानक एक विचार कौंधा। जैसे मनौतियाँ मानने से देवी-देवता प्रसन्न होते हैं, वैसे ही क्यों न राजदेव से कह दें कि "बेटा, तुम्हारे ही काम से जा रहा हूँ, इसलिए घर की देखभाल की ज़िम्मेदारी अब तुम्हारी है।"

सिंहेश्वर जब डेढ़िया से लौटकर आँगन की ओर मुड़े और राजदेव से यह बात कहने ही वाले थे, तभी पत्नी ने टोका-

"बासि भात खाकर निकलनेवाले पुरुष जैसे सब कुछ भूल जाते हैं, वैसे ही आप भी भूल जाते हैं। बताइए, क्या भूल गए?"

देवकांत बाबू जैसे ईमानदार शिक्षक के पास समय बिताने की जो उत्सुकता मन में थी, उसमें जब बेटे के हित में किए जा रहे कार्य की भावना भी जुड़ गई, तो सिंहेश्वर का मन और भी प्रसन्न हो उठा। उन्हें लगा कि बेटे के साथ-साथ उनके अपने जीवन की धारा भी अब एक नई दिशा पाएगी। इसी कारण उन्होंने पत्नी की बातों में उलझने के बजाय मन में आए उस क्षणिक विचार को ऐसे झटक दिया जैसे गरम पानी पर जमी झाग को ऊपर से हटा दिया जाता है। अब उनके मन में न कोई हर्ष रहा, न विषाद।

पत्नी के चेहरे पर व्यस्तता का भाव देखकर सिंहेश्वर बोले- "देवकांत बाबू जैसे व्यक्ति के पास समय बीतेगा, तो घर-परिवार की सुध-बुध तो वैसे भी छूट जाएगी। इसलिए तुम घर की सारी ज़िम्मेदारी संभाल लो। मैं चलता हूँ।"

पिता की बात सुनकर राजदेव बोला- “देख ही रहे हैं, सब साथी-संगिनी साथ छोड़ चुके हैं। वे मुझे रोगी समझते हैं और मैं उन्हें।”

राजदेव की बात सुनकर सिंहेश्वर के मन में आया कि क्यों न बेटे को ऐसा भरोसा दिया जाए जिससे वह यह मान ले कि भले ही दुनिया उसे रोगी माने, भीतर से वह पूरी तरह निरोग है। सिंहेश्वर ने स्नेहपूर्वक कहा- “बेटा, कोई कुछ भी कहे, अपने ही मुँह को गंदा करता है। क्या तुम्हारे मन ने कभी कहा कि तुम बीमार हो?”

इतना कहकर सिंहेश्वर आँगन से निकले और देवकांत बाबू के गाँव की राह पकड़कर विदा हुए। घर से थोड़ी दूर ही पहुँचे थे कि मन में अचानक विचार उठा। जब हाई स्कूल तक की शिक्षा निशुल्क है, तो किताब-कॉपी के साथ टिफिन का अल्पाहार भी निश्चित रूप से मुफ्त होगा। जब किताबों का भार सरकार पर है, तो फिर स्वयं को यूँ व्यर्थ क्यों परेशान कर रहा हूँ। यह तो बेकार की चिंता है।

कई प्रश्न एक साथ उनके मन में उठ खड़े हुए, जिनसे वह उलझन और मानसिक मंथन में घिर गए।

सुबह के आठ बजे थे। देवकांत बाबू दरवाज़े पर अकेले बैठे मन ही मन सोच रहे थे कि सिंहेश्वर ने आने का वादा तो किया था, पर अब तक पहुँचे नहीं। भीतर ही भीतर वे उन्हीं की प्रतीक्षा में डूबे हुए थे कि तभी दूर से सिंहेश्वर आते हुए दिखाई दिए।

सिंहेश्वर के प्रणाम करने से पहले ही देवकांत बाबू बोले-

"बहुत दिन जिएँगे आप, सिंहेश्वर। अभी-अभी मन ही मन आपके आने की राह देख रहा था।”

देवकांत बाबू की इस आत्मीय प्रतिक्रिया को अनसुना करते हुए सिंहेश्वर ने केवल कहा-

"प्रणाम, मास्टर साहब।”

‘प्रणाम’ के उत्तर में आशीर्वाद वे पहले ही दे चुके थे, इसलिए उसे दोहराना उचित न समझते हुए बोले- “आइए, पास में बैठिए। कान सटाकर

दोनों भाई बातें करेंगे। देख रहा हूँ, कैसा समय आ गया है।”

“कैसा समय” सुनते ही, जैसे साँप के डँसने पर कोई झटककर खड़ा होता है, वैसा ही कुछ सिंहेश्वर की प्रतिक्रिया में था। वे तुरंत बोले-

“मास्टर साहब, जीना कठिन हो गया है।”

यह सुनते ही देवकांत बाबू के मन में एक विचित्र आलोक फैल गया, जैसे बिजली की एक तीव्र चमक अँधेरे को चीरती हुई शून्य से विराटता की ओर बढ़ गई हो। उस गहरे अँधेरे में, जहाँ सब कुछ धुँधला था, वहाँ एकाएक विचारों की तेज़ रोशनी फैल गई। उन्हें प्रतीत हुआ कि केवल सिंहेश्वर ही नहीं, ऐसे असंख्य लोग हैं जिनके लिए यह समय कठिन होता जा रहा है।

उन्होंने सोचा कि हवाई जहाज़ जैसी आरामदेह सवारी में बैठा व्यक्ति एक पल में दुर्घटनाग्रस्त होकर मिट्टी में मिल जाता है। रेलगाड़ी या कोई और तेज़ सवारी जीवन को उतनी ही तेज़ी से दौड़ाती है, पर एक झटके में सब कुछ समाप्त भी कर देती है। ऐसे में सिंहेश्वर का ‘दुरकाल’ कहना क्या कोई असामान्य बात है? यह तो समय की गति है, जो अपनी ही दिशा में निरंतर चलती रहती है। कभी यह किसी के लिए शुभकाल बनती है, तो कभी दुरकाल। सब कुछ निर्भर करता है व्यक्ति के जीवन और उसकी गति पर।

देवकांत बाबू के मन ने मान लिया कि जिसे सिंहेश्वर ने ‘दुरकाल’ कहा- वह न तो वास्तव में दुरकाल है और न ही सुकाल। यह तो सोचने का भेद है, दृष्टिकोण का अंतर। पर यह विचार तो उनका अपना था। क्या सिंहेश्वर भी इसे वैसे ही समझेंगे? फिर उनके मन में यह विचार आया कि अभी तो प्रश्न सिंहेश्वर के भीतर से उठा है, इसलिए पहले उनके मन को समझना और उसे शांत करना ज़रूरी है।

देवकांत बाबू ने सहज स्वर में पूछा-

“क्या जीना कठिन हो गया है, सिंहेश्वर?”

जिस तरह कोई व्यक्ति दूसरे के मन की पीड़ा को अपनी पीड़ा मानकर संवेदित होता है, उसी भाव से सिंहेश्वर बोले-

“भाय साहब, आप ही से तो सब तरह के श्रेष्ठ भाव मिले हैं। अगर

आपसे नहीं कहूँ तो और किससे कहूँ?”

सिंहेश्वर के शब्द सुनकर देवकांत बाबू के मन में भी संवेदना की एक गहरी भूमि तैयार होने लगी। लेकिन जब उन्होंने देखा कि सामने वाले के भीतर विचार अब भी दबे हुए हैं, तो वे सिर हिलाते हुए उन्हें खुलने के लिए प्रेरित करने लगे। यह देखकर सिंहेश्वर के मन ने भी मान लिया कि देवकांत बाबू सचमुच उनकी पीड़ा को समझना चाहते हैं।

हार चुके, टूटे हुए व्यक्ति का जीवन सैकड़ों राक्षसी समस्याओं से घिरा रहता है। ऐसी स्थिति में उसका मन इतना उलझ जाता है कि यह पहचानना कठिन हो जाता है कि कौन-सी समस्या बड़ी है और कौन-सी छोटी। कभी कम महत्वपूर्ण बात आगे आ जाती है और ज़्यादा महत्वपूर्ण पीछे छूट जाती है। सिंहेश्वर के मन में भी कुछ ऐसा ही हो रहा था।

वे आए तो थे बेटे राजदेव के स्कूल और किताबों की बात करने, पर मुँह से निकल गया,

“भाय साहब, क्या कहूँ, ऊपर से देखो तो सब घर एक जैसे दिखाई देते हैं।”

सिंहेश्वर की यह बात देवकांत बाबू को किसी अर्थ में नहीं लगी। उन्होंने पूछा- “क्या मतलब, सिंहेश्वर?”

जैसे कोई घुड़सवार अचानक घोड़े की लगाम खींच ले और घोड़ा ठिठककर रुक जाए, वैसे ही सिंहेश्वर का मन भी ठहर गया। उनके भीतर से आवाज़ आई कि दूसरों के बारे में व्यर्थ सोचने से बेहतर है कि अपने भीतर झाँकें। बाज़ार के धुनिए की तरह, जो दूसरों की रुई को धुनता है, उससे अच्छा है कि खुद अपनी रुई धुनें।

सिंहेश्वर ने धीमे स्वर में कहा- “भाय साहब, अब तो न अपने को, न परिवार को, न समाज को कोई अंदाज़ा है कि कल क्या होगा।”

देवकांत बाबू के मन में यह विचार आया कि क्यों न सिंहेश्वर से कह दें,

“जैसा आज करोगे, वैसा ही कल पाओगे।”

लेकिन तुरंत ही भीतर की बुद्धि ने उन्हें रोक दिया। उन्होंने सोचा, अपने कर्म को मान भी लिया जाए, तब भी यह प्रकृति, जो इतनी विशाल है, क्या वह निष्क्रिय बैठी रहती है? क्या उसमें कोई गति नहीं है? या उसी की गति से तो सारी सृष्टि चलती है। जैसे समुद्र का पानी गर्म होकर भाप बन जाता है और हवा के रूप में आकाश में फैल जाता है, वैसे ही धरती के भीतर भी भूकंप जैसी शक्तियाँ सक्रिय हैं, जो समय-समय पर पृथ्वी को हिला देती हैं।

विचारों को समेटते हुए देवकांत बाबू ने कहा- "क्या मतलब, सिंहेश्वर? तुम्हारी बात ठीक से समझ नहीं पाया।"

देवकांत बाबू की उत्सुकता देखकर सिंहेश्वर का मन झिझक गया। मन में कहा-

"यह तो अब किस दिन की बात हो गई। आए थे हरिभजन करने, और लग गए कपास ओंटने।"

अपने को संभालते हुए वे बोले-

"भाय साहब, दुनिया बहुत बड़ी है और विचारों से भी भरी है। ऐसे में अगर हम ही पीछे रह जाएँ और दुनिया मुँह ताकती रह जाए, तो क्या यह अच्छा होगा? अच्छा तो यही है कि हर कोई अपने जीवन को सँवारे और उसी से संसार की रचना करे।"

सिंहेश्वर की भावनाओं को समेटते हुए देवकांत बाबू बोले-

"भाय सिंहेश्वर, सोचो तो सही, हम-तुम कितने बड़े हैं? बहुत हुआ तो समुद्र की एक बूँद के बराबर। ऐसे में जो समुद्र को उठाकर पीने की सोचता है, उसे छोड़ो। अपने हिस्से की जो छोटी-सी दुनिया है, उसी को सँभालो।"

देवकांत बाबू की बात सुनकर सिंहेश्वर ने कहा- "भाय साहब, आपने बात तो सही याद दिला दी। असल में मैं एक काम से आया हूँ।"

कर्म को प्राथमिकता देने वाले देवकांत बाबू जीवन भर वैसे ही रहे थे और आज भी थे। वे थोड़ा विस्मित होकर बोले-

“अगर विचार देर से भी आया, तो भी ठीक समय पर ही आया। बताओ, किस काम से आए हो?”

सिंहेश्वर ने उत्तर दिया-

“भाय साहब, वैसे तो कल की कुछ बातें और काम बाकी हैं, पर उसे छोड़िए। आज जो नया माहौल बन रहा है, जिससे पूरी व्यवस्था की रूपरेखा बदल रही है, जिसे मैं ‘सनचरिक अवस्था’ कहता हूँ, उसे ज़रा ठीक से समझा दीजिए। वैसे, थोड़ी भूलने की आदत हो गई है, तो हो सकता है कि सुनते-सुनते बीच में कुछ भूल जाऊँ।”

सिंहेश्वर के मनोभावों को आत्मसात करते हुए देवकांत बाबू बोले-

“सिंहेश्वर, पहले यह बताओ कि किस काम से आए हो। उसके बाद उस काम की रूपरेखा देखेंगे और फिर निर्णय लेंगे।”

सिंहेश्वर ने अपने हृदय को खोलते हुए कहा-

“मास्टर साहब, आपके भाईचारे से भरे विचार सुनकर मन इतना प्रसन्न हो गया कि सारी पीड़ा मानो अतीत में खो गई। घर से एक काम के लिए चला था, लेकिन रास्ते में दूसरा काम मन में उभर आया। अब असमंजस में हूँ कि पहले क्या कहूँ और क्या नहीं।”

सिंहेश्वर की भूलने की बात सुनकर देवकांत बाबू मुस्कराते हुए बोले-

“सिंहेश्वर, भूलना भी एक ऐसा रोग है जो इस दुनिया के हर व्यक्ति को लगा है। बस टी.बी. या कैंसर जैसी बीमारियों की तरह इसे गिनकर बताया नहीं जाता। खैर, इतना तो याद आ गया कि घर से एक काम लेकर चले थे और रास्ते में दूसरा काम मन में आ गया।”

सिंहेश्वर ने यह बात सुनकर अपने भीतर एक हलचल-सी महसूस की। उनका मन ऐसे डोल गया जैसे भीतर कोई लहर उठ आई हो। वे थोड़े उत्तेजित होकर बोले- “मास्टर साहब, आजकल ज़्यादातर लोग ज़्यादातर बातें झूठ ही बोलते हैं।”

यह सुनकर देवकांत बाबू को समझ नहीं आया कि सिंहेश्वर सोच-

समझकर बोल रहे हैं या बस भावनाओं में बहक गए हैं। फिर भी उन्होंने मन ही मन सोचा कि क्यों न उन्हें धीरे-धीरे शांत किया जाए। बोले-

"सिंहेश्वर, पहले एक गिलास पानी पी लो, फिर शांति से सारी बातें करेंगे।"

देवकांत बाबू की यह बात सुनते ही सिंहेश्वर के भीतर ग्लानि की एक लहर उठी। उन्हें लगा कि जब दो सच्चे मनुष्य एक साथ बैठकर किसी काम की बात करने आए हैं, तो बीच में उलझे हुए विचार लाना किसी जटा-जटीन के तमाशे जैसा है, जहाँ बेवजह मेंढ़क को उक्खाड़ में पीटा जाता है। स्वयं को संयत करते हुए सिंहेश्वर ने कहा-

"मास्टर साहब, मन में बड़ी ललक है कि बेटे को दो अक्षर का ज्ञान दे सकूँ। बाबू जी ने अपनी अंतिम अवस्था में कहा था, 'बौआ, बहुत इच्छा थी कि तुम्हें दो अक्षर पढ़ा दूँ, पर वह इच्छा अधूरी रह गई। लेकिन तुम अपने बेटे को ज़रूर पढ़ाना।' वही बात आज मन में गूँज रही है।"

सिंहेश्वर के भीतर से निकली इस गहरी आवाज़ को सुनकर देवकांत बाबू भीतर तक पसीज गए। लेकिन समय ऐसा आ गया था कि लोग एक-दूसरे के पास आने के बजाय दूरी बनाए रखना ही सहज मानने लगे थे। अब संबंध बनाना और उन्हें निभाना केवल बातों का विषय नहीं रहा था।

अपने मन को संभालते हुए देवकांत बाबू बोले-

"सिंहेश्वर, तुम मुझे समझो या न समझो, पर खुद को तो तुम भलीभाँति समझते ही हो न। जहाँ तक मुझमें शक्ति है, वहाँ तक जो संभव होगा, उस पर भरोसा रखो कि वह पूरा होगा।"

देवकांत बाबू की बात सुनकर सिंहेश्वर के मन में विश्वास उसी तरह जागा जैसे आम का पौधा रोपते ही मन में उसके फल का स्वाद घुलने लगता है। उन्होंने हृदय से कहा- "भाय साहब, अभी तो पाँच दिन ही बीते हैं, इसलिए कुछ ठीक से समझ नहीं पा रहा हूँ। पर तूफ़ान आने से पहले जैसी सिहरन चलती है, वैसा ही कुछ महसूस हो रहा है। लगता है कोई अनहोनी होनेवाली है।"

देवकांत बाबू ने सिंहेश्वर की बातों को ध्यान से सुना और समझा, पर उनकी स्थिति देखकर मन में यह विचार आया कि शायद डर उनके भीतर इतना घर कर गया है कि उसी ने उनका मन अस्थिर कर दिया है। उन्होंने ठहरकर सोचा कि क्यों न उन्हें ठोस ज़मीन पर उतारें और सहज रूप से पूछें कि वे आगे क्या करना चाहते हैं।

इस विश्वास के साथ देवकांत बाबू ने पूछा- "सिंहेश्वर, परिवार की क्या स्थिति है?"

'परिवार' शब्द सुनते ही सिंहेश्वर का मन वैसे ही सिमट गया जैसे कोई अपनी झोपड़ी की हालत पर परदा डाल देता है। बोले-

"भाई साहब, परिवार की क्या हालत होगी? खराब ही है। जैसे बूढ़ों की ज़िंदगी हो जाती है, वैसी ही हो गई है। एक तो गरीब का कोई बड़ा मनोरथ होता ही क्या है, और जो थोड़ा-बहुत है, वह भी अब जीने का झंझट बन गया है।"

सिंहेश्वर के बिखरे हुए मन को समेटने की कोशिश में देवकांत बाबू धीरे-धीरे बातचीत का रुख फिर से उद्देश्य की ओर मोड़ने लगे। बोले-

"अभी तुम बेटे की ललक की बात कह रहे थे, वह बात ठीक से समझ नहीं पाया।"

यह सुनकर सिंहेश्वर के मन में वैसी ही प्रसन्नता जागी जैसे कोई नई जगह पहुँचने से पहले उसकी कल्पना से मन हर्षित हो उठे। बेटे के प्रति दायित्व की भावना उनके भीतर उमड़ पड़ी। बोले-

"भाय साहब, पाँच ही दिन में बेटा पागल जैसा हो गया है।"

सिंहेश्वर की यह मार्मिक बात देवकांत बाबू के भीतर तक उतर गई। लेकिन अपनी सीमाएँ पहचानते हुए वे बस इतना ही कह पाए-

"बेटा पागल हो गया, सिंहेश्वर? कैसे?"

सिंहेश्वर बोले- "भाय साहब, बेटे के सारे साथी-संगी छूट गए। न पढ़ाई में कोई साथ बचा, न खेल में। चौथे दिन राजदेव को अपने यहाँ

देखकर उसके दोस्तों और एक साथी के बड़े भाई ने उसे मार-मारकर भगा दिया। उसमें भी हमारे पास इतनी हैसियत नहीं कि किसी के आगे-पीछे हाथ जोड़ें। बस इसी आस में थे कि स्कूल से किताबें मिल जाएँगी, तो बेटा पढ़ सकेगा। किताबें तो आई थीं, पर मिलीं सिर्फ पाँच लड़कों को। जबकि इतनी किताबें आई थीं कि हर विद्यार्थी को एक-एक सेट मिल सकता था। पर हुआ यह कि उन पाँचों को पूरा सेट दे दिया गया और बाकी बच्चों को यह कहकर समझा दिया गया कि वे एक-दूसरे से लेकर पढ़ें।"

सिंहेश्वर की बात सुनकर देवकांत बाबू ने मन ही मन मान लिया कि यह बात सच है। वैसे भी उस बँटवारे में उनसे कोई राय नहीं ली गई थी, न ही उनकी कोई ज़िम्मेदारी थी। सब कुछ वर्ग-शिक्षक और प्रधानाध्यापक ने मिलकर तय किया था। अनुशासन का तकाज़ा यही था कि मुँह बंद रखा जाए।

देवकांत बाबू ने पूछा- "फिर क्या हुआ?"

सिंहेश्वर बोले- "ठीक-ठीक तो नहीं समझ पाया। राजदेव अभी बच्चा है, उसकी बातों पर कितना भरोसा किया जाए, यह भी समझ नहीं आता।"

देवकांत बाबू ने बात सँभालते हुए कहा-

"सिंहेश्वर, मन में दृढ़ता जगाओ। अपने काम को मन में रोप दो और पूरे समर्पण से उसकी सेवा करो।"

फिर विचार बदलते हुए बोले- "अभी तो पाँच दिन ही हुए हैं, देखते हैं आगे क्या होता है।"

बीच में सिंहेश्वर ने बोला- "भाय साहब, अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी।" ❑

9

☰

कोरोना काल की बंदी को आज तीन महीने पूरे हो गए। इस दौरान कई परिवार बिखर गए और कई ने किसी तरह अपने अस्तित्व को बचाए रखा। सतयुग में राजा हरिश्चंद्र को वह परिस्थिति झेलनी पड़ी थी जब श्मशान में काम करने के बावजूद उन्हें अपने बेटे के लिए कफ़न माँगना पड़ा था। कलियुग में यह तीन महीने की बंदी उसी पीड़ा का आधुनिक रूप बन गई। इस अवधि में हर व्यक्ति ने अकेले जीने-मरने का अनुभव किया और सुविधाओं के मोह से परे, बचत का पाठ भी सीखा।

यहाँ तक कि कफ़न और कर्मकांड के नए वस्त्रों की जगह पुराने वस्त्रों से ही काम चलाया गया।

भाई, काम तो काम होता है, करना ही पड़ता है। जब कपड़ों की दुकानें बंद हो गईं, तो कफ़न कहाँ से आता? और जब डॉक्टरों समेत दवाइयाँ भी नदारद हो गईं, तो बीमारों की दशा कौन संभालता? जो होना था, समाज ने उसे सहन किया।

सिंहेश्वर को इन सबसे कोई मतलब नहीं था। उसके लिए जीवन का मतलब था कि चाहे ईमानदारी से जिए या बेईमानी से, किसी तरह गुज़ारा होना चाहिए।

मध्य अगहन में जैसे किसानों के घर अनाज से भर जाते हैं, वैसे ही आज की रात सिंहेश्वर के लिए भी वैसी ही समृद्धि लेकर आई। आधी रात को एक आरक्षित गाड़ी चली जिससे उसे मनचाही कमाई हुई। जिस गाँव में वह सवारी लेकर गया था, वहीं से उसे लौटते समय दूसरी सवारी भी मिल

गई। आमदनी दोहरी नहीं, चौगुनी हो गई।

हाँ, महीने भर का टैक्स यानी स्थानीय पुलिस प्रशासन का निजी सुविधा शुल्क देना पड़ा। लेकिन परिवार भी तो चलाना था।

आसपास के तमाम टेम्पो चालकों ने देखा कि जब उड़नदस्ता पुलिस रास्ता रोकती है तो क्यों न वे भी पुलिस के सामने रास्ता रोककर अपनी ताक़त दिखाएँ। यदि आपसी समझौता हो जाए तो दोनों का भला है। उन्हें भी रात में कुछ कमाई हो जाएगी और पुलिस को भी हिस्सा मिल जाएगा।

आख़िरकार, पुलिस वाले भी इसी समाज के लोग हैं। उनके भी घर-परिवार हैं, बच्चे हैं। किसी के मुँह का निवाला छीनना तो ठीक नहीं।

बंदी के दस दिन बीतते ही स्थानीय स्तर पर टेम्पो चालकों और उड़नदस्ता पुलिस की टीम के बीच ईमानदारी से समझौता हो गया। महीने भर का टैक्स टेम्पो चालकों पर तय कर दिया गया और उन्हें रात में गाड़ी चलाने की अनुमति मिल गई। अब तक जो जीवन सिंहेश्वर का चला आ रहा था, उसमें इन दस दिनों की थोड़ी रुकावट आई, पर उसके बाद फिर वही पुरानी रफ्तार लौट आई।

परिवार का सारा हिसाब-किताब मिलाने के बाद सिंहेश्वर के मन में आया कि क्यों न रूपलाल काका का हालचाल भी पूछ लिया जाए। समाज में अब भी कुछ गिने-चुने लोग ऐसे हैं जो उसके लिए खड़े रहते हैं। समाज में हज़ारों परिवार हैं, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि सब एक-दूसरे के सहारे जीते हैं। कुछ खास परिवारों के बीच ऐसा रिश्ता बना रहता है कि वे एक-दूसरे की ताकत बन जाते हैं।

रूपलाल काका का घर तो बिलकुल पास है, केवल दस या पंद्रह कदम की दूरी पर। दोनों परिवार पड़ोसियों की तरह रहते हैं। मगर गाँव के बाकी पड़ोसियों की तरह इसमें यह भावना नहीं है कि पड़ोसी और दाल, जितनी गले, उतनी स्वादिष्ट लगें। वक्त ने इतना तो सिखा ही दिया है कि अब घर-आँगन में आना-जाना पहले जैसा सहज नहीं रह गया है। पहले जहाँ पच्चीस-पचास बार घर जाने पर भी किसी से मिलना कठिन होता था,

अब वह दूरी कम हो गई है।

हाँ, अब यह ज़रूर हो गया है कि सबकी नज़र में हर कोई कोरोना से ग्रसित-सा लगता है, इसलिए दो गज की दूरी बनाए रखना ज़रूरी हो गया है। पर जब दो गज की दूरी रहेगी तो कानाफूसी कैसे होगी? खैर, जो ऐसा करना जानते हैं, वे कर ही लेते हैं। इससे सिंहेश्वर को कोई मतलब नहीं। उसे बस इतना चाहिए कि उसका परिवार और पड़ोसी परिवार आपस में ऐसे जुड़े रहें कि चैन से साँस ली जा सके और शांति से जीवन जिया जा सके।

रूपलाल काका दरवाज़े पर अकेले बैठे अपनी दुनिया के बारे में सोच रहे थे। मन ही मन यह गिन रहे थे कि भगवान ने अगर बेटी दी है, तो उसने बेटे से भी बढ़कर अपना कर्तव्य निभाया है। उसी के कारण वे इस कठिन समय में भी संभले हुए हैं। बेटी का ससुराल व्यापारियों का परिवार है, जहाँ किसी चीज़ की कमी नहीं रहती। इसलिए रूपलाल काका को पहले भी, यानी जब कोरोना नहीं था, तब भी कोई अभाव नहीं था, और अब तो और भी नहीं। जब से बंदी शुरू हुई है, बेटी का परिवार खाने-पीने से लेकर हर ज़रूरी चीज़ भरपूर भेज रहा है।

सिंहेश्वर को दरवाज़े पर खड़ा देखकर रूपलाल काका बोले-

"अरे, ऐसे खड़े क्यों हो सिंहेश्वर? अंदर आकर बैठो न। सुना है कि दूसरे-दूसरे देशों में तो कोरोना और बढ़ रहा है।”

रूपलाल काका की बात कानों में पड़ते ही सिंहेश्वर आगे बढ़कर उनके पास आया और बोला-

"काका, विश्वास से ही फल मिलता है।”

रूपलाल काका ने उसकी बात को पहले तो यूँ ही सामान्य ढंग से लिया, जैसे गाँव-समाज में अक्सर कहा जाता है कि 'विश्वास से ही फल मिलता है।' लेकिन तुरंत ही भीतर कहीं चेतावनी-सी उठी। उन्होंने सोचा, विश्वास भी दो तरह का होता है। एक वह जो केवल सुनने पर टिका होता है, और दूसरा वह जो अनुभव पर आधारित होता है। एक विश्वास ऐसा होता है जो सिर्फ कानों से सुना जाता है—कि कहीं कोई घटना घटी—जिसे न

अपनी आँखों से देखा गया, न अपने हाथों से किया गया। और दूसरा वह, जिसे अपने श्रम से, अपनी त्वचा पर महसूस करके, जीवन में जीकर अनुभव बनाया जाता है। दोनों के बीच बहुत अंतर होता है।

रूपलाल काका बोले-

"क्या विश्वास से फल, सिंहेश्वर?"

पिछली रात की अच्छी कमाई से सिंहेश्वर का मन अब भी प्रसन्न था। वह मुस्कराते हुए बोला-

"काका, जो यह मान ले कि मुझे छोड़कर बाकी सबको कोरोना हो गया है, तो यह उसका अपना मन का भ्रम है। लेकिन यह बात अपने मन में थोड़े होती है!"

सिंहेश्वर की बात सुनकर रूपलाल काका के मन में कोई ठोस विचार नहीं उभरा। उसने दूसरों की चर्चा तो की, लेकिन अपने बारे में कुछ नहीं कहा। फिर ऐसा विचार अपना कैसे हो सकता है? काका ने पूछा-

"तुम्हारे मन में क्या है, सिंहेश्वर?"

सिंहेश्वर बोला- "काका, जैसे अपने शरीर को देखकर हमें लगता है कि हमें कोई बीमारी नहीं है, वैसे ही सबका हाल होगा। क्या किसी के सीधे कह देने से बीमारी लग जाती है? जो भी हो, यह तो लोग जानें और जैसे सोचें, वैसे करें। हमें तो बस इतना ध्यान रखना चाहिए कि अगर शरीर में कोई रोग आए, तो आँख मूँदकर जैसे पहले डॉक्टर साहब के पास जाकर इलाज करवाते थे, वैसे ही अब भी करेंगे।"

बात तो यूँ ही निकल गई, लेकिन कहते-कहते सिंहेश्वर खुद पछताने लगा कि झूठ बोल गया। पिछले तीन महीनों में हालात ऐसे हो गए थे कि डॉक्टरों ने अपने क्लिनिक बंद कर दिए थे। अब जाए तो किसके पास? और जब दवा की दुकानें भी बंद हों, तो दवा लाए कहाँ से?

सिंहेश्वर की बात सुनकर रूपलाल काका के मन में तनिक भी हलचल नहीं हुई। न मिसरी भर, न मडुआ भर, न मुट्ठी भर। वजह साफ थी, दवा की दुकानों की दवाएँ सड़ नहीं गई थीं, न ही डॉक्टर समुद्र के किनारे

द्वारका जाकर कृष्ण की तरह छिप गए थे। जब हाथ में मोबाइल है, तो पूरी दुनिया हाथ में है। ज़रूरत पड़ने पर सबकुछ किया जा सकता है।

रूपलाल काका बोले-

“सिंहेश्वर, सौ बीमारी की एक दवा है- संयम, ज़रूरत के अनुसार भोजन, और समय के अनुसार अपना काम-काज।”

सिंहेश्वर ने उत्तर दिया-

"हाँ, यह तो है ही।”

बातचीत के दौरान सिंहेश्वर ने रूपलाल काका की बात से पूरी सहमति जताई, लेकिन मन में यह सवाल भी उठा कि घर-परिवार और गाँव-समाज में कौन ऐसा है जिसने यह बात न सुनी हो कि 'हर रोग की दवा संयम है'? फिर भी इतने लोग बीमार क्यों पड़ते हैं? कौन बताए कि रोग केवल देह में नहीं होते, मन और आचरण में भी लगते हैं।

भीतर-भीतर सिंहेश्वर के मन में एक द्वंद्व उठने लगा, अभय भी और भय भी। अचानक उसके चेहरे का रंग बदल गया, जो रूपलाल काका की नज़र से छिपा नहीं रह सका। मुस्कराते हुए काका बोले-

“सिंहेश्वर, जितना दुनिया का भार उठा सकते हो, उतना ही उठाओ। अपने घर-परिवार का भार ठीक से सँभालते चलो, बस यही चिंता रखो।”

'अपने घर-परिवार' शब्द सुनते ही सिंहेश्वर के विचारों की दिशा बदल गई। उसे लगा कि अगर आदमी खुद को केवल अपने परिवार तक सीमित कर ले और पड़ोसी या समाज से कोई संबंध न बनाए रखे, तो गाँव में आग लगने या महामारी फैलने पर उसका परिवार भी नहीं बचेगा। मुसीबत में तो वही बचता है जिसे दूसरों का सहारा मिलता है।

असल में, जब मनुष्य अपने जीवन की दिशा को पहचानकर अपनी राह पर चलने लगता है, तभी उसके और पड़ोसियों के बीच सच्चा संबंध बनता है। पर ऐसा होना तभी संभव है जब दिशा सही हो और जीवन में गति हो।

हमारा गाँव-समाज अब इतना दिशाहीन हो गया है कि हर परिवार के भीतर चार-पाँच तरह की साम्प्रदायिक सोच एक साथ बह रही है। यहाँ तक कि पति-पत्नी के बीच भी विचारों का टकराव है। एक वैष्णव है, जो मांस-मछली को वर्जित मानता है, और दूसरा साकठ है, जो मांस-मछली खाता है। ऐसे में टकराव होना स्वाभाविक है। सवाल उठता है, इन दोनों में सही कौन? जब पति-पत्नी के विचार एक नहीं हैं, तो भिन्न जाति या सम्प्रदाय के लोगों में एकता कैसे संभव होगी?

और इसी के बीच एक और प्रश्न उभरता है, मन की वृत्ति का। कुछ खाद्य वस्तुएँ मन को स्वीकार होती हैं, कुछ नहीं। इसका समाधान यही है कि जो वस्तु मन को न रुचे, उससे परहेज़ करो, लेकिन उससे घृणा मत करो और न ही उसकी निंदा करो। यही संयम है और यही समझदारी।

अपनी मनोकामना टूटते देख सिंहेश्वर बोला- “काका, क्या कहूँ! मन में बड़ी इच्छा थी कि बेटे को कम से कम मैट्रिक तक पढ़ा दूँ, पर अब...?”

सिंहेश्वर की बात सुनकर रूपलाल काका समझाते हुए बोले-

“सिंहेश्वर, यह कठिन समय केवल तुम्हारे या मेरे लिए नहीं है, सबके लिए है। सुना ही होगा कि राजस्थान में डॉक्टर बनने की पढ़ाई कर रहे बच्चों की भी कैसी दशा हो गई है। जब गाँव-गाँव के स्कूल बंद पड़े हैं, तो हमारे-तुम्हारे यहाँ क्या चलेगा?”

बेटे की पढ़ाई की भावना में डूबा सिंहेश्वर बोला- “काका, अगर मेरी अपनी इच्छा पूरी न हो पाई तो मन को समझा लूँगा। लेकिन पिताजी की सोच अगर अधूरी रह गई तो यही बात भीतर से कचोट रही है।”

सिंहेश्वर की भावनाओं को देखकर रूपलाल काका ने उसे ढाढ़स देते हुए कहा- “सिंहेश्वर, चाहे रोग शरीर का हो या समाज का, उसे मिटने में समय लगता है। अभी तो तीन महीने ही कारोबार बंद हैं। आगे देखो, क्या होता है।”

रूपलाल काका की बात सुनकर सिंहेश्वर का मन ठिठक गया। ठिठकते हुए बोला- “काका, जैसे लोग देखकर जीते हैं, वैसे ही सीखकर

सीखते भी तो हैं न।"

सिंहेश्वर की बात को रूपलाल काका ने दिल से स्वीकार किया, लेकिन विचार के स्तर पर स्वीकार करना और उसे कर्म में उतारना दो अलग बातें हैं। विचार समान होते हुए भी उनके बीच दूरी बनी रहती है।

अचानक रूपलाल काका का मन बेचैन हो उठा। बेचैनी का कारण यह था कि यदि किसी क्रिया को पहले विचार के रूप में नहीं गढ़ा जाए, तो उसका स्वरूप तैयार कैसे होगा? अब तक दोनों के बीच कुछ सहमति बनी थी, पर आगे बढ़ते ही मतभेद सामने आ गए। कोई समाधान न निकलता देख रूपलाल काका बोले- "सिंहेश्वर, ऐसा कठिन समय आ गया है कि परिवार की बात तो छोड़ो, अब तो अपनी ही देह से जूझकर जीना कठिन हो गया है।"

दरअसल, सिंहेश्वर की आमदनी, रात में टेम्पो चलाने से होने वाली कमाई, पहले से कुछ हद तक ठीक हो गई थी। वैसे यह बात सिर्फ सिंहेश्वर की नहीं थी, ऐसे बहुत से लोग थे जो इसी तरह काम कर रहे थे। शायद इसी कारण सिंहेश्वर का मन परिवार के अन्य कामों में न लगा और उसका ध्यान सीधे बेटे की पढ़ाई की ओर चला गया। वह बोला- "काका, कब तक स्कूल बंद रहेंगे, इसका तो कोई ठिकाना नहीं है। अपने यहाँ न तो राजदेव में पढ़ने-लिखने की कोई साधन है, न ही कोई देखने-सिखाने वाला है।"

इतना कहकर सिंहेश्वर चुप हो गया। रूपलाल काका के मन में एक गहरी टीस उठी। वह सोचने लगे कि यही तो किसी यज्ञ का असली संकल्प होता है, जिसे लेकर व्यक्ति जी-जान से जुट जाता है। वे मन ही मन यह भी जानते थे कि अबोध बच्चों को पढ़ाने-बिठाने वाले पिता या अभिभावक अक्सर थककर यही कह देते हैं-

"पढ़ो या मत पढ़ो, तुम्हारी मर्जी।" दरअसल, दोनों ही प्रकार के विचारों में परंपरा से चले आ रहे संस्कारों की छाया होती है।

कहने का अर्थ यह है कि जिस परिवार ने अब तक विद्यालय का मुँह नहीं देखा, उसी में न पढ़ने का संस्कार जीवित रहता है। खैर, जो है, उसे

वहीं रहने दो। रूपलाल काका बोले- “सिंहेश्वर, केवल तेरे बेटे के साथ ऐसा हुआ हो, ऐसा नहीं है। सबके साथ यही हाल है। फिर भी यह आशा तो रखनी ही चाहिए कि जो गति सबकी होगी, वही हमारी भी होगी।”

यह सुनकर सिंहेश्वर के मन का कुहासा हट गया। विचारों में नई चमक आ गई। उसने कहा-

"काका, हमारे दोनों परिवार जाति से भले अलग हों, लेकिन तीन पीढ़ियों से जो संबंध बना है, उसमें कहीं भी जाति का सिर उठाकर कोई भेद नहीं दिखा। और यह भी सही है कि जब तक घर के आसपास के पड़ोसियों के बीच आपसी समझ और सद्भाव बना रहेगा, तब तक चैन और शांति भी बनी रहेगी।”

सिंहेश्वर की बात सुनकर रूपलाल काका ने मन ही मन सोचा कि शायद ड्राइवर साथियों के सत्संग में रहकर सिंहेश्वर को ऐसे विचारों की समझ आई है। उन्होंने उसकी बात पर सहमति जताते हुए कहा-

"हाँ, ऐसा तो रहना ही चाहिए।”

रूपलाल काका की स्वीकृति सुनकर सिंहेश्वर ने पूछा-

"काका, मेरी आमदनी पहले से कुछ बेहतर हो गई है, परिवार में किसी तरह की कमी तो नहीं है?”

सिंहेश्वर की चिंता सुनकर रूपलाल काका के मन में महालक्ष्मी का स्मरण हो आया। लक्ष्मी के चार रूप होते हैं- धनलक्ष्मी, राजलक्ष्मी, इंद्रराजलक्ष्मी और महालक्ष्मी। मुस्कराते हुए उन्होंने उत्तर दिया-

“सिंहेश्वर, अब तुमसे क्या छिपाना, बेटी-दामाद के सहायता से किसी चिज की कमी नहीं है।” ❑

10

☰

भोर हो चुकी थी, लेकिन चारों ओर अभी भी धुंध छाई हुई थी। देवकांत बाबू बिस्तर पर पड़े अपने जीवन और उसके संकल्पों को टटोल रहे थे। विचित्र परिस्थितियों में फँसे उनके मन में गहरी पीड़ा थी। उन्हें लग रहा था कि अब जीवन को ढोना कठिन हो गया है। और कठिन क्यों न हो? पिता की दी हुई जो थोड़ी-बहुत पैतृक संपत्ति थी, उसमें घर-आँगन के अलावा चार बीघा खेत भी थे, जो उन्होंने बटाई पर लगा दिए थे। पर अब उन खेतों की उपज पूरी तरह चौपट हो चुकी थी, जो पहले बटाईदार दिया करते थे।

गाँव में जब सड़क बनी, तो खेतों की सूरत ही बदल गई। इंजीनियरों ने ऐसा नक्शा तैयार किया कि पानी की निकासी का रास्ता बंद हो गया और पूरा गाँव एक तरह से टापू बन गया। कोसी नदी की तरह खेतों में साल भर पानी जमा रहता, जिससे खेती बर्बाद हो गई। बटाईदारों को दोष क्या दें? जब उनके लिए भी मौसम अनुकूल नहीं रहा, तो वे कब और कैसे खेती कर पाते? उपज का नष्ट होना स्वाभाविक था।

उसी समय पत्नी दमयंती आकर बोली-

"ऐसे बैठे रहने से क्या काम चलेगा?”

देवकांत बाबू ने कोई उत्तर नहीं दिया। दमयंती वहीं खड़ी रही, इस अपेक्षा में कि पति कुछ तो कहेंगे। पर देवकांत बाबू अपने भीतर की उलझनों में इतने डूबे थे कि उत्तर देना उनके लिए संभव नहीं हो पाया। पत्नी का प्रश्न उनके मन में जैसे काँटे की तरह चुभ गया। वे सोचने लगे कि जब

से पिता गुजर गए, तब से उन्होंने कभी एक पैसा भी उधार नहीं लिया।

असल में, उनके पास इतना नहीं था कि किसी महाजन की तरह ब्याज पर रुपया-पैसा या अन्न-पानी उधार दे सकें। फिर भी, जीवन में एक उम्मीद तो बनी रही। नौकरी की तनख्वाह से परिवार का गुज़ारा चलता रहा। उसी उम्मीद पर उनका जीवन और उनका संकल्प टिका रहा।

गाँव में जब सूदखोरी और महाजनी के खिलाफ आवाज़ उठी, तो समाज के लोग एकजुट होकर खड़े हो गए। भले ही पूरे गाँव के लोग उस आंदोलन से नहीं जुड़े, लेकिन आधे से अधिक किसान और खेतिहर लोग इस आशा के साथ उसमें सम्मिलित हुए कि जैसे किसी अमर बेल की लताएँ पूरे वृक्ष को जकड़ लेती हैं, वैसे ही महाजनी की जकड़न ने गाँव के आर्थिक जीवन को तहस-नहस कर दिया है।

महाजनों के चंगुल में फँसकर न जाने कितने लोग गाँव छोड़कर शहरों या बाज़ारों की ओर चले गए और कितने तो दूसरे गाँवों में जाकर बस गए। गाँव की मिट्टी, वहाँ की यादें, सब पीछे छूट गईं, लेकिन सूद की बेड़ियाँ अब भी कई के पैरों में जकड़ी हुई हैं।

महाजनी के खिलाफ जब समाज एकजुट होकर खड़ा हुआ, उस आंदोलन में देवकांत बाबू भी शामिल थे। हालाँकि महाजनी का सीधा प्रभाव उनके परिवार पर नहीं पड़ा था, फिर भी समाज के कल्याण की भावना से उन्होंने कॉलेज के दिनों में उस आंदोलन का समर्थन किया और लोगों को महाजनी के घिनौने इतिहास से अवगत कराया। आंदोलन की दिशा उन्हें स्पष्ट दिखाई दे रही थी। उनका मानना था कि जब कोई व्यक्ति स्वयं महाजन के पास कर्ज लेने जाता है, तो दोष महाजन का नहीं, बल्कि उधार लेने वाले का है। अगर कोई कर्ज ही न ले, तो महाजन टिकेगा कैसे? वह तो अपने आप समाप्त हो जाएगा।

लेकिन यह कहना जितना आसान था, व्यवहार में उतना ही कठिन। माता-पिता का श्राद्ध, बेटी की शादी, बच्चों की पढ़ाई-लिखाई और बीमारियों का बोझ तो था ही। साथ ही, गरीबी भी इतनी गहरी थी कि पेट

भर अन्न मिलना भी कठिन हो गया था। हालाँकि अब कुछ हद तक सुधार आया है, पर तब की तुलना में बहुत कुछ बदल चुका है। जिस दिन से हर व्यक्ति को प्रति माह दस किलो अन्न मिलने का अधिकार संविधान में दर्ज हुआ, भूखमरी की समस्या में काफी कमी आई है। भले ही गाँव की श्रमशक्ति के बाहर चले जाने से उसकी प्रगति कुछ धीमी हुई हो, लेकिन मूलभूत जरूरतें पहले की तुलना में बेहतर ढंग से पूरी होने लगी हैं।

आंदोलन के दिनों में देवकांत बाबू ने यह संकल्प लिया था कि कोई भी सामाजिक या कल्याणकारी आंदोलन, जो व्यवस्था की विसंगतियों के विरुद्ध खड़ा होता है, वह उनके परिवार और संतान से भी अधिक प्रिय रहेगा। इसी भावना से उन्होंने यह व्रत लिया था कि वे महाजनी के फेर में नहीं पड़ेंगे। उनका सिद्धांत था कि जब कठिन समय आए, तो जितना लिया जाए, समृद्ध समय में उतना ही लौटा दिया जाए, ताकि सूद-सवाइ का बीज धरती में न पड़ सके।

उसी बीच दमयंती फिर बोली-

"कुछ कहा नहीं आपने?”

पत्नी की बात सुनकर देवकांत बाबू ऐसे चौंके, जैसे कोई कर्जदार अपनी गाय या आँगन की कोई चीज़ महाजन के सिर पर चढ़ा देता हो। सिर उठाकर उन्होंने कहा-

"परिवार को क्या समझती हो? परिवार तो परिवार है। अगर यूँ ही कुछ कह देने या दूसरों के परिवार को दोष देने से काम चलने लगे, तो फिर सोचने की जरूरत ही क्या है?”

दमयंती की आँखों की भौंहें हल्के से उठीं। उसकी दृष्टि में जो भाव था, वह देवकांत बाबू की नज़रों से छिपा नहीं रहा। घायल स्थान की तरह मन को टटोलते हुए उन्होंने कहा-

"परिवार कोई विवाह का घटक-प्रश्न थोड़े है, कि पूछा जाए 'नाम क्या है?' तो उत्तर दिया जाए 'फलाँ'। या पूछा जाए 'कुल-मूल क्या है?' तो कह दिया जाए 'फलाँ'। इससे जीवन का परिचय थोड़े मिलता है। पर यह

कहना भी ठीक नहीं है कि परिवार का अर्थ समझकर कोई कार्य नहीं होता। होता तो है ही।”

महरैयों की मद्धम माँग सुनते ही जैसे महर की ताल से स्वर मिलकर गूँजने लगते हैं, वैसे ही पति के विचारों के सुर में सुर मिलाते हुए दमयंती बोली-

“यदि परिवार धिया-पुता के बिना नहीं है, तो फिर क्या है? यही तो परिवार की बुनियाद है। विवाह के बाद ही तो किसी का नाम घर-परिवार में जुड़ता है।”

चौकन्ना रहने वाले चौमास के चौकियन में जिस तरह चौकीदार का मन उस आशा पर टिक जाता है कि वह बरसात में जितनी लगन से खेत जोतेगा, उससे कहीं अधिक लगन से वह अपने परिवार की समस्याएँ पकड़ेगा और उनके समाधान खोजेगा, उसी तरह दमयंती का स्वर भी उलझन में डूबे हुए परिवार की पीड़ा पर ठहर गया।

मुस्कुराते हुए देवकांत बाबू बोले-

"विद्यार्थी जीवन में जो व्रत हमने लिया था, महाजन के विरुद्ध जो संकल्प लिया था, उसे जीवन में अपनाकर आज तक पहुँचे हैं। इस बीच जो विस्फोटक स्थिति बनी है, उसमें यह उचित होगा कि हम भी अपने ढंग से उससे जूझें। हम भी कुछ करें। हम मनुष्य हैं, है न? हवा के बिना कोई दस मिनट भी नहीं जी सकता, पानी के बिना सात दिन नहीं चलता, पर अन्न के बिना एक महीना तो चल ही जाता है। तब क्या हाथ-पाँव छोड़कर बैठे रहेंगे? जिसने जन्म दिया है, उसी ने हाथ-पाँव भी दिए हैं।”

इतना कहते-सुनते देवकांत बाबू कुछ ज़्यादा ही बोल गए। बाद में अपने मन में ही टोकते हुए उन्हें लगा कि वह थोड़ी हड़बड़ी में कह गए। महाजन के विरोध में जो आंदोलन हुआ था, उसमें न जाने कितनों ने तपस्या की थी, पुरुषों ने भी और स्त्रियों ने भी। स्त्रियाँ लेन-देन के मामलों में अधिक कुशल होती हैं। अगर कोई चतुर महाजन कहीं से सूद पर पाँच-दस हज़ार रुपये ले आए, तो क्या हमारा संकल्प टिकेगा? ऐसे अनैतिक महाजन की

उपस्थिति तो स्त्रियों की चतुराई की परीक्षा बन जाती है। पर भाग्य साथ रहा।

दमयंती ने दृढ़ स्वर में कहा-

"जो काम आपने अब तक नहीं किया, उसे करने से पहले आपसे पूछ तो लेंगे न?”

जिस तरह किसी खेल में गोटी चलने पर एक साथ दो रास्ते खुल जाते हैं और खिलाड़ी के मन में जीत की आशा और भी प्रबल हो जाती है, वैसा ही कुछ देवकांत बाबू के मन में भी हुआ। उन्हें लगा कि यदि उनकी पत्नी किसी महाजन या साहूकार के पास जाकर अपनी उपस्थिति दर्ज कराने से बचेंगी, तो कठिन समय का सामना करने की शक्ति उनके भीतर अवश्य जागेगी।

देवकांत बाबू बोले-

“देख रहा हूँ, अब हमारी ही नहीं, सबकी दशा एक जैसी हो गई है।”

कहते समय उनके स्वर में विश्वास था, पर मन के भीतर एक संशय भी उठा। उन्होंने मन ही मन कहा- “मनुष्य जैसा प्रेम का अथाह समुद्र है, वैसा ही छल-कपट का शिरोमणि भी है।” परिवारों में अक्सर देखा जाता है कि ऊपरी बातें और काम सबको बताए जाते हैं, लेकिन भीतर की बातों या गुप्त कार्यों की भनक सब तक नहीं पहुँचती। समझ में आता है कि जैसे पिंगला जीवन भर राजा भर्तृहरि के साथ रही, पर उसने भी चोरी-छिपे की बात कभी किसी से नहीं कही। खैर, वह बहुत पुरानी बात है।

आज के समय में तो यही उचित है कि हर व्यक्ति अपने जीवन के बहाव पर ध्यान दे और समय की गति को समझते हुए आगे बढ़े। अगर ऐसा नहीं किया गया, तो वही स्थिति आएगी जब पुत्र अपने पिता से पूछेगा-

“आपने मेरे लिए क्या किया?” जबकि पिता का असली मूल्य तब समझ में आता है, जब वही पुत्र स्वयं अपने पुत्र को खड़ा करने की जिम्मेदारी उठाता है। जो व्यक्ति जीवन की वैदिक परंपरा को एक झटके में उठाकर किनारे फेंक देता है, वह यह कैसे समझेगा कि मनुष्य इस सृष्टि से

जुड़ी हुई एक इकाई है, एक अंश है।

इन्हीं विचारों में डूबे देवकांत बाबू के मन में यह बात उठी कि क्यों न पत्नी से रसोई की स्थिति पूछी जाए। समय की नज़ाकत को देखते हुए उन्होंने पूछा- “अभी चूल्हे की क्या हालत है?”

अब तक दमयंती ने न तो खाना बनाने का कोई विचार पति से साझा किया था, न ही स्वयं कुछ तय किया था। देवकांत बाबू भी भीतर ही भीतर इस बात से संतुष्ट थे कि वे किसी तरह चूल्हे की उलझन से बचे हुए हैं। वे जानते थे कि चूल्हे की उलझन कोई साधारण जाल नहीं है, बल्कि एक महाजाल है, जीवन का मूल तत्त्व। बिना कारण उसमें उलझने पर हाट-बाज़ार की रौनक, सब्ज़ी-तरकारी की चिंता और दैनिक विवशताएँ सब एक साथ आ जाती हैं।

पहले जब भी दमयंती खर्च माँगती थी, तो देवकांत बाबू भोजन को प्राथमिकता देते हुए उसकी माँग पूरी कर देते थे। लेकिन अब जो स्थिति थी, वह उनके लिए अग्नि-परीक्षा से कम नहीं थी। एक ओर तीन महीने से वेतन नहीं मिला था, जिससे परिवार के सारे काम ठप हो गए थे और जीवन की गति चरमरा गई थी। वहीं दूसरी ओर उनके जीवन का संकल्प भी अब चूल्हे की आँच पर तपने लगा था।

अब तक देवकांत बाबू ने कभी किसी से सूद पर पैसा उठाकर अपना काम नहीं चलाया था, लेकिन अब स्थिति ऐसी बन गई थी जैसे सूदखोर महाजनों का जाल उन्हें चारों ओर से घेरने लगा हो।

दमयंती ने शांत स्वर में कहा- “मुश्किल से तीन दिन और चल पाएगा।”

पत्नी के मुँह से 'तीन दिन' सुनकर देवकांत बाबू के भीतर वही सिहरन दौड़ गई, जैसे कोई कल्पवृक्ष के नीचे बैठा व्यक्ति यह सोचकर वृक्ष लगाता है कि एक दिन का खर्च बचाना आलस्य है। मिथिला का पुराना मंत्र उन्हें याद आया- “लूटो, खाओ, काटो, और सुबह फिर जुट जाओ।”

मन में यह आते ही उन्होंने स्थिति संभालते हुए कहा- “परिवार

जितना मेरा है, उतना ही तुम्हारा भी तो है। इसलिए गाड़ी की तरह दोनों पहियों को समान गति से चलाना ही कल्याणकारी होगा। तुम चूल्हे की चिंता में लगो, मैं भी साथ देता हूँ। इतना तो विकल्प है ही कि साथ मिलकर भूख भी झेल सकते हैं।”

अब तक दमयंती को अपने दायित्व का गहरा बोध नहीं था। आत्मबोध के अभाव में आत्मविश्वास भी कमजोर था। पर इस क्षण उसे अपनी भूमिका का एहसास हुआ। जैसे कोई साधक अनुभूति से देव-दर्शन पा लेता है, वैसे ही दमयंती ने अनुभूति के माध्यम से परिवार-दर्शन पा लिया।

मुस्कुराते हुए दमयंती बोली-

“यही कारण है कि पुरुष चालाक कहलाते हैं। मैं उन्हें बेईमान नहीं कहूँगी, लेकिन इतना तो कह ही सकती हूँ कि साल में जब तीन महीने पावन उपवास रहते हैं, तब पुरुषों के हिस्से में एक भी उपवास क्यों नहीं आता? सारे उपवासों का बोझ हमेशा स्त्रियों के हिस्से में ही क्यों होता है?”

अपनी बातों से स्वयं को थोड़ा असहज महसूस करते हुए देवकांत बाबू बोले-

"जब पुरुष में स्त्री के गुण और स्त्री में पुरुष के गुण आ जाएँ, यानी शरीर की बनावट के साथ प्रकृति में संतुलन भर जाए, तब हमारे-तुम्हारे बस में कुछ बाकी रहेगा क्या? इसलिए मतभेद क्यों करना।”

जेठ का महीना था, सुबह के दस बज चुके थे। धूप इतनी तीखी हो गई थी कि खेतों में काम करने वाले लोग भी बाहर का काम छोड़कर घर की छाँह में शरण लेने लगे थे। देवकांत बाबू दरवाज़े पर दक्षिण की ओर सड़क की तरफ देख रहे थे और मन ही मन अपने परिवार की स्थिति का हिसाब लगा रहे थे, तभी उन्होंने नवोनाथ मास्टर साहब को आते देखा।

नवोनाथ बाबू थोड़ी दूरी पर थे, लेकिन फिर भी देवकांत बाबू ने उन्हें पहचान लिया। उनके बारे में सोचते हुए देवकांत बाबू के मन में यह विचार उठा कि जैसे कौरव और पांडवों के बीच जुए के पाँसे बिछे थे, एक ओर राजशाही वाले कौरव और दूसरी ओर निहत्थे पांडव, उसी तरह के हालात

अब समाज में भी बनते जा रहे हैं। नवोनाथ बाबू भी जीवनभर स्कूल में शिक्षक रहे हैं, पर साथ ही महाजनी का काम भी करते हैं।

इतना सोचते हुए नवोनाथ बाबू दरवाज़े पर आ पहुँचे। देवकांत बाबू तुरंत कुर्सी से उठे, उन्हें प्रणाम किया, बाँह पकड़कर दूसरी कुर्सी पर बैठाया और स्वयं भी पास ही बैठ गए।

दरवाज़े पर आए नवोनाथ बाबू से परिवार का हाल न पूछते हुए देवकांत बाबू बोले-

"भाई साहब, जैसे हमारी स्थिति बिगड़ गई है, वैसे ही बच्चों की, यानी विद्यार्थियों की परेशानी भी दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही है।"

उम्र में परिपक्व नवोनाथ बाबू ने गंभीर स्वर में कहा-

"बच्चों का तो भविष्य ही चौपट होता जा रहा है। हमारे यहाँ जो हाई स्कूल है, वहाँ अब पढ़ाई कहाँ होती है। विद्यालय के नाम पर बस इमारत खड़ी रह गई है।"

देवकांत बाबू बोले- "सुनने में आता है कि निजी कोचिंग संस्थानों में अनुशासित ढंग से पढ़ाई-लिखाई की अच्छी व्यवस्था है।"

जैसे कोई खिलाड़ी क्रिकेट में छक्का जड़ दे, वैसे ही नवोनाथ बाबू मुस्कराते हुए बोले-

"यही तो सार्वजनिक संस्थानों और निजी संस्थानों के बीच का अंतर है, पर...।"

'पर' कहते ही नवोनाथ बाबू चुप हो गए। देवकांत बाबू के मन में विचार उसी मछली की तरह कुलबुलाने लगा, जिसका मुँह और पूँछ दोनों कटे हों, पर पहचान अब भी बाकी हो। उन्होंने पूछा-

"क्या बात है, भाई साहब?"

नवोनाथ बाबू ने कहा- "देवकांत, छोड़ो इन बातों को।"

दोनों ही एक ही हाई स्कूल में शिक्षक थे, लेकिन नवोनाथ बाबू उनसे पंद्रह वर्ष वरिष्ठ थे। देवकांत बाबू ने फिर पूछा- "ऐसा क्यों कहा आपने, भाई

साहब?”

नवोनाथ बाबू बोले- “जब बादल गरजता है तो हर कोई सिर पर हाथ रख लेता है। मैं भी कुछ ऐसे ही बेचैन हूँ। आगे क्या होगा, कुछ सूझता ही नहीं।”

देवकांत बाबू को पता था कि नवोनाथ बाबू की सेवा-निवृत्ति का समय निकट आ चुका है, लेकिन उसी बीच विद्यालय बंद हो गया। उन्होंने पूछा- “क्या मतलब, भाई साहब?”

नवोनाथ बाबू बोले- “तीस तारीख को सेवा-निवृत्त होना था। मन में सोच रखा था कि बीस तारीख के बाद के सारे काम निपटा दूँगा। लेकिन बीच में ही विद्यालय बंद हो गया। अब न तो विधिवत सेवा-निवृत्त हो पाया हूँ, न ही सेवारत रह गया हूँ।”

देवकांत बाबू बोले- “यह तो सचमुच विचित्र स्थिति बन गई है।”

नवोनाथ बाबू ने कहा- “तीन महीनों से ऐसी उलझन में फँसा हूँ कि कुछ भी समझ में नहीं आता। इसलिए तुमसे विचार करने आया हूँ।”

देवकांत बाबू बोले- “भाई साहब, आपसे भी अधिक विचित्र स्थिति में मैं फँस गया हूँ। घर का चूल्हा तक बुझने की नौबत आ गई है।”

नवोनाथ बाबू ने गहरी साँस लेते हुए कहा- “जब समय बदलेगा, तब तुम ज़रा शरीर से सहारा दे देना। अब मैं खुद नहीं आ सकता। तुम्हारे चूल्हे का भार अब मुझ पर है।”

❑❑❑

❑❑

❑

Notes